ॐ

श्रीदक्षिणामूर्त्तये नमः

सुखद सम्पत्ति

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य महामण्डलेश्वर
श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज
के हस्ताक्षरों में संगृहीत उपदेश

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्रीदक्षिणामूर्ति–निरंजनपीठाधीश्वर
श्री १०८ स्वामी पुण्यानन्द गिरिजी महाराज
आचार्य महामण्डलेश्वर की आज्ञासे

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
वाराणसी

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

अनन्तश्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी

महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर

ॐ

विषय-क्रम

उपोद्धात	-	पृ १
विवेक	-	पृ १०
वैराग्य	-	पृ १६
शम	-	पृ ३२
दम	-	पृ ४२
उपरति	-	पृ ४६
तितिक्षा	-	पृ ५०
समाधान	-	पृ ५३
श्रद्धा	-	पृ ५६

ॐ

प्रस्तावना

छान्दोग्योपनिषद की भूमाविद्या काफी विशेषतायें अपने गर्भ में समेटे प्रकाशभाव रत्न के समान विद्यमान है। उसमें भगवान भाष्यकार आचार्य शंकर ने भाष्य लिखकर मानों उस रत्न को तरासा गया। उसी विद्या रत्न को श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्रीनिरंजनपीठाधीश्वर आचार्य महामण्लेश्वर अनन्त श्रीविभूषित ब्रह्मलीन श्रीमहेशानन्द गिरिजी महाराज ने अपने जीवन भरके का सात्त्विक साधन मनन रूपी सुवर्ण में पिरोया गया तो यह भूमाविद्या आज जिज्ञासुओं के हाथों में है। इस ग्रन्थ रत्न की विशेषता यह है कि महाराज श्री के हाथों अपने ही हस्ताक्षर द्वारा तैयार किया गया है। इसे दो रूप में अध्येताओं के सामने रखने का विचार श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन ने किया। एक तो जैसा महाराज श्री का स्वच्छस्निग्ध एवं गम्भीर जीवन था। उसी प्रकार आपका हस्ताक्षर भी है। मानो अन्तराक्ता का प्रतिविभ्वही ग्रन्थ के रूप में आया हो। यह उनके हम सभी अनुयायियों केलिए एक अवलम्वन होगा। पर हस्तलेख पाण्डुलिपि का आकार यथा सुविधा सम्भव न लगे उनके लिए कम्प्यूटर टाइप द्वारा ग्रन्थ भी तैयार हो जो दीर्घ काल तक मनन करने वालों का एक कीमती धन बन जाय। हरिद्वार कुम्भ मेला संवत् २०६६-६७ में भक्तों केलिए निःशुल्क वित्तराणार्थ **मेहता चैरिटेबल ट्रस्ट, दिल्ली** ने यह ग्रंथ को तैयार करने के लिए व्यय भार बहन किया। श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन उन्हे महाराजजी का आत्मिक शुभाशीर्वाद का पात्र मानती है। एवं महाराज श्री का अनुग्रह उन्हे आगे भी बना रहे यही शुभकामना के साथ।

उमारमण से हार्दिक प्रार्थना
शुभेच्छु

ॐ

उपोद्घात

देवर्षि नारद परम भक्त एवं विद्वान् होने पर भी आनन्द का अनुभव नहीं कर पा रहे थे। भौतिक दृष्टि से ब्रह्मा के मानस पुत्र को कोई दुःख हो यह संभव नहीं। पुरुषोत्तम विष्णु के सर्वोत्कृष्ट भक्त और परम कृपापात्र को कौन देव आधिदैविक दुःख से पीडित करने का दुःसाहस करता। परन्तु विचारशील के आध्यात्मिक दुःख को तो इतने से शान्ति नहीं मिलती। अतः भगवान शंकर के पास वे जिज्ञासु बन कर गये। शंकर ने उन्हें अपने पुत्र स्कन्द के स्वरूपभूत सनत्कुमार के पास दीक्षा लेने को भेजा। सनत्कुमार स्वयं शंकर के शिष्य ही नहीं नारद के ज्येष्ठ भ्राता भी थे। उस समय हिमालय के स्कन्दक्षेत्र में ध्यानमग्न बैठे थे। नारद ने जाकर दण्डवत् प्रणाम किया। सदाशिव के ध्यान में मग्न सनत्कुमार को उन्हीं सदाशिव ने प्रेरणा दी एवं वे 'शिव शिवाय नमः शम्भवल्लभायै नमः। गौरीशाय शंकराय शारदायै नमः॥' कहते हुये समाधि से उठ गये। अभी तक भी उस आनन्द का मद छाया हुआ था। सामने नारद को देख बडे प्रेम से उनका आलिंगन करके पूछने लगे 'भाई! कैसे आये।' उस आलिंगन मात्र से मानो नारद के युगयुगान्तर के पाप नष्ट हो गये हों ऐसा हलकापना उन्हें अनुभव हुआ। न ध्यान में और न साकार दर्शन में उन्हें वह तृप्ति मिल पाई थी जो आज समाधिमग्न सनत्कुमार के प्रेम से उन्हें मिली। कहने लगे 'अधीहि भगव इति'[इति] (भगवन् मुझे आप जिस तत्त्व के ध्यान में मग्न थे उसका उपदेश करें)।'

सनत्कुमार जैसे श्रेष्ठ वक्ता और नारद जैसे श्रेष्ठ गायक का संवाद सामवेद में ही ग्रथित किया जा सकता है। अतः सामवेद के षड्विंश ब्राह्मण में ही यह संवाद पाया जाता है। कौथुमीशाखा के छान्दोग्योपनिषद् के सप्तम अध्याय में संक्षिप्तरूप से उस संवाद का निरूपण है। वेदान्त में यह सनत्कुमारविद्या या भूमाविद्या के नाम से प्रख्यात है। नारद के जाने को यहाँ 'उपससाद सनत्कुमारं नारदः' से कहा गया है। उप √सद् का अर्थ होता है समीप बैठना या गोता लगाना। गुरु के समीप बैठकर उनके उपदेशामृत में डूबना ही 'उपससाद' से बताया है। इसके लिये जो वैदिकविधि से गुरुसंगम का नियम है उसे ध्वनित तो किया गया ही है। विधि के बिना कोई भी क्रिया सफल नहीं होती।

सनत्कुमार उपदेशक हैं। सनत्कुमार से उपदेशक की योग्यता बताई गई है। √सन् = प्यार करना। अतः सनत् अर्थात् प्यार करते हुये। वैदिक संस्कृति में सभी शिक्षा का आधार गुरु का शिष्य के प्रति प्रेम एवं करुणा तथा शिष्य का गुरु के प्रति श्रद्धा एवं शुश्रूषा ही स्वीकारा गया है। गुरु को ही नहीं सत्पुरुषों को भी वेद 'अलूक्षाः' कहता है। इसी लिये 'सोम्य' आदि शब्दों से ही शिष्य को सम्बोधित किया जाता है। सनत् का अर्थ ब्रह्म भी है। जो ब्रह्मनिष्ठ 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' के न्याय से ब्रह्मस्वरूप बन गये हैं वे ही ब्रह्मविद्या के उपदेश करने के अधिकारी माने गये हैं। केवल वाचिक ज्ञान या शास्त्रों का ज्ञान दूसरे में निष्ठा उत्पन्न कराने में समर्थ नहीं। गुरु शिष्य के हृदय में प्रवेश करता है। अतः गुरु की निष्ठा का ही शिष्य में संचार होता है। अनुभवी गुरु ही शिष्य में अनुभव का संचार कर सकता है। √कुमार = खेलना। जो इस विश्व में

शिव शक्ति के क्रीडांगन में, निरन्तर खेलता है, विलास करता है वही कुमार है। इस क्रीडांगन को जिन्होंने रोने का स्थान मान कर इससे भागकर बचने को ही साध्य मान रखा है वे जीवन्मुक्ति से अभी बहुत दूर हैं। वेद के सिद्धांत में 'सम्पूर्ण जगदेव नन्दनवनं' सम्पूर्ण विश्व को देवों का उपवन बना देने का अद्भुत सामर्थ्य है। संसार के भौतिकवादी विश्व को दुःखसमेत स्वीकारते हैं क्योंकि जिस प्रकार बिना कांटे के गुलाब नहीं मिल सकता उसी प्रकार बिना दुःख के सुखप्राप्ति उन्हें असंभव लगती है। धर्माभासी मत या मज़हब और पन्थ संसार के दुःखों से घबराकर किसी विशेष लोकान्तर या अवस्थाविशेष की कल्पना करते हैं जिसमें संसार से बच जावेंगे। शून्यवादी बौद्ध एवं न्याय-वैशेषिकादि मत तो ज्ञानशून्य एवं आनन्दशून्य अवस्था को ही मोक्ष मान कर उसे पत्थर के समभाव को प्राप्त करा देते हैं। भगवान शंकरभगवत्पादाचार्य तो इसीलिये इन्हें वैनाशिक और अर्धवैनाशिक सम्प्रदाय कहते हैं। संसार के सभी धर्मों और दर्शनों में एकमात्र वेदान्ती ही विश्व को दुःखरहितपरमानन्दानुभवरूप बताने का दावा करता है। वस्तुतः वेदान्त का दावा है कि 'एकमेवाद्वितीयं परमार्थता इदंबुद्धि-कालेऽपि' (शांकरभाष्य ब्र.सू. २-२-२२) जिस काल में दुःख एवं खण्डरूप से यह विश्व सामान्य जन्तु को प्रतीत होता है उस काल में भी अखण्ड परमानन्द रूप से ही वह स्थित है। वेदविज्ञान केवल हमारी बुद्धि में निर्मलता को लाकर हमें उसे अनुभव करने की सामर्थ्य देता है। जहां दूसरे मतवाले विश्व को दुःखमय बताते हैं वेद हमारे मन के संस्कारों के कारण उसमें दुःखता की प्रतीति बताता है। स्कन्दरूप से शिवशक्ति के साक्षात् पुत्र भगवान् सनत्कुमार इसीलिये सनत = चिरन्तन कुमार हैं कि वे इस आंगन में सदा ही पुत्रभाव से खेलते रहते हैं। जो भी शिवशक्ति के कृपापात्र बनकर जीवन्मुक्ति के आनन्द में रहते हैं वे क्रीडा करने वाले ही शिवशक्तिपुत्र स्कन्द कहे जाते हैं एवं वेदी बुलाविद्या के आसन्नविद्य उपदेशक बन सकते हैं। परन्तु इस प्रकार वे ही खेल सकते हैं जो कुमार हैं।

'कुत्सितो मारो येन स कुमारः' जिसने कामनाओं को तिरस्कृत कर दिया है वही कुमार है। कामनाओं का मूल भेददर्शन है। अभेददर्शी में कामनाओं का अभाव स्वतः सिद्ध है। स्वतः अपनी कामना किसी को नहीं होती। 'सर्वैकत्वात्कामानुपपत्तेः' (बृ०भाष्ये)। कामना न होने पर शरीररूपी उपाधि के द्वारा दुःख भी संभव नहीं। 'किमर्थं कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्' (बृ०४.४.१२) 'कस्य कामाय...शरीरतापमनुतप्येत' (बृ०भाष्य) इत्यादि श्रुतियाँ व स्मृतियाँ इसी का प्रतिपादन करती हैं। कामना के उदय होने पर कुमारत्व नष्ट हो जाता है। चित्त में व्यभिचारता आजाती है। फिर बालक की तरह क्रीडा संभव नहीं। लोक में भी कुमार में काम का अभाव प्रत्यक्ष है। कामुक बनने पर ही अहंकार का उदय होता है एवं तब युवा माना जाता है और मातापिता के साथ पूर्व जैसा सहज क्रीडा का व्यवहार नहीं रह जाता। विवाहोत्तर जिस प्रकार पत्नी से ही क्रीडा संभवती है उसी प्रकार अविद्या से ही जीवभाव में क्रीडा करता है। इसी प्रकार शिवशक्ति के विषय में समझना चाहिये। जिसकी अविद्या पत्नी नहीं है वही जीवन्मुक्त कुमार कहा गया है। ऐसा नित्यविज्ञानानन्द में स्थित ही ब्रह्मविद्या का प्रचार कर सकता है।

नारद शिष्यभाव के प्रतीक हैं। नार अर्थात् ज्ञान को जो देता है वह नारद है। शिष्य वही है जो ज्ञान प्राप्त करके उसका विस्तार करता है। 'आचार्यस्य प्रियं धनं आहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' (तै०उ०१.११) वेद की आज्ञा है कि गुरु के प्रियधन रूपी विद्या को ग्रहण करके ज्ञानसन्तति का उच्छेद न होने दे। जो केवल अपने तक ही ज्ञान को सीमित रखना चाहता है वह वास्तविक शिष्य नहीं है। 'केवलाघो भवति केवलादी' (ऋ०१०.११७) केवल अन्न या बाह्य भोगों को ही विषय नहीं करता वरन् ज्ञान को भी स्वयं अपने तक ही सीमित रखने का निषेध करता है। इसीलिये काठकसंहितोपनिषद् में प्रार्थना की गई है 'तेजस्वि नावधीतमस्तु' (६.१९) हमारा किया हुआ अध्ययन वीर्यवाला बने। जिस प्रकार वीर्यहीन संतति कुल के लिये व्यर्थ है वैसे ही विद्या को भी समझना चाहिये। वैदिक संस्कृति के पतन काल में विद्या को स्वयं अपने तक सीमित रखने के भ्रान्त स्वार्थ ने एक आदर्श का रूप ले लिया। 'गोपाय मा' (नि०२.१) का अर्थ केवल गोपन करना नहीं है वरन् रक्षा करना भी है। विद्या की रक्षा शिष्यों के हृदय में उसका संचार करने से ही है। वेद की रक्षा उसके ग्रन्थों से नहीं है। पुस्तकालयों में अथवा प्रकाशकों के यहाँ रखी पोथियों में वेद के मंत्र नहीं रखे जा सकते। भगवान शंकरभगवत्पादाचार्य लिखते हैं 'मनोवृत्त्युपाधिपरिच्छि-

न्नं मनोवृत्तिनिष्ठमात्मचैतन्यं' मन की वृत्ति में रहनेवाला एवं उस उपाधि से विशिष्ट आत्मा ही मंत्र शब्द का अर्थ है। पुस्तकरूप मंत्र तो केवल उस वृत्ति का प्रेरक होने से गौणरूप से मंत्र कहा जाता है। ऐसा न मानने पर वेदमंत्रों की नित्यता सिद्ध ही नहीं हो सकती। अतः शिष्य के मन में ही वेदों को लिखने से वेद-रक्षण संभव है। जिस शिष्य से ऐसी आशा नहीं वह ब्रह्मविद्या का उत्तम अधिकारी भी नहीं हो सकता।

नर अर्थात् आत्मा। उससे उत्पन्न जगत भी नार कहा जाता है। उसका जो 'धति' खण्डन या बाध करता है वह नारद कहा जाता है। जगत में आत्मा और अनात्मा मिले हुये हैं। विवेक से उन्हें दो टुकडे करके खण्डित किया जाता है। तत्पश्चात् अनात्मा को 'धायति' तिरस्कृत किया जाता है अतः विवेकी और वैराग्यवान् ही नारद पद का वाच्य है। शिष्य में इन दोनों गुणों की परमावश्यकता तो सभी जगह प्रतिपादित है। नार का अर्थ नरसमूह भी होता है। उनका तिरस्कार अर्थात् नरसमूह से अलग एकान्त में रहने का स्वभाव जिसका है वह नारद है। विविक्त-देश के बिना ब्रह्मविचार संभव नहीं। निरन्तर विक्षेप में ज्ञान की उत्पत्ति और संरक्षण दोनों असंभव है। इसीलिये प्राचीन काल से आज तक के सभी ब्रह्मजिज्ञासुओं ने एकान्त अरण्य में ही साधना की है। जन समूह से प्रेम करना मान-प्रतिष्ठा के द्वारा भी साधक को पथ-भ्रष्ट करता है। भगवान सनत्कुमारों ने अन्यत्र तो 'ज्ञातीनां तु वसन्मध्ये नैव विद्येत किंचन' (म०भा० उद्योग० अ० ४२. ३१) कहकर परिचित मानवों में रहते हुये विद्या की किंचिन्मात्र प्राप्ति को भी असंभव बताया है। 'आपो नारा' इस मनुवचन से नार का अर्थ जल भी होता है। पितृकर्म जल के द्वारा प्रधानरूपसे निष्पन्न होता है। वस्तुतः 'अपो यत्कर्म-चरति' के द्वारा यास्क तो सभी कर्मों को आप शब्द से कहते हैं। अतः सभी कर्म एवं विशेषतः पितृकर्मों का परित्याग करने वाला 'नारद' वस्तुतः परमहंस को ही बताता है। 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोयमात्मायं लोकः' (बृ० ४.४.२२) जिन्हें आत्मा ही एकमात्र अभीष्ट है वे पुत्रैषणा आदि पितृकर्मों से क्या मतलब रखेंगे। परमहंस का ही विशेष अधिकार ब्रह्मविद्या में है यह बात तो स्वयं भगवान भाष्यकार प्रजापति-विद्या के अन्त में 'त्यक्तसर्वैषणैर्बन्धैः अनन्यशरणैः परमहंसपरिव्राजकैः अत्याश्रमिभिः वेदान्तविज्ञानपरैः एव वेदनीयम्' के द्वारा स्पष्ट करते हैं। इस ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करने के समग्र

साधनों का यह सूत्रवाक्य है। सभी अनात्मपदार्थों की इच्छाओं को छोड़कर केवल सदाशिव की शरण लेने वाले एवं सभी आश्रम एवं वर्ण धर्मों का परित्याग करके केवल श्रुति में प्रतिपादित आत्मश्रवणमनननिदिध्यासन के लिये विहित परमहंस आश्रम को स्वीकारने वाले ही वेदान्तविज्ञानपरायण इस को प्राप्त करते हैं। न तो परमेश्वरश्रद्धारहित नास्तिक और न स्मृति में प्रतिपादित संन्यास आश्रम के लिये विहित दण्डतर्पणादि कर्मों में रत ब्रह्मनिष्ठा को प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं। अतः नारद से यहाँ श्रुतिविहित परमहंस का भी कथन है। इस प्रकार नारद शिष्यभाव के प्रतीक हैं। शिष्य की योग्यता साधक को यत्नपूर्वक प्राप्त करनी पड़ती है अतः इन पर विस्तृत विचार आवश्यक है। ब्रह्मसूत्र में भी 'अथ' शब्द से इसी साधनचतुष्टय को बताया है। नारद और सनत्कुमार के नाम से साधकों को ब्रह्मविद्या में रुचि उत्पन्न होती है। ऐसे महान देवर्षि भी आत्मविद्या की जिज्ञासा गुरु के पास जाकर करते हैं अतः यह अवश्य उपादेय है।

वेदान्त अर्थात् वेद का सिद्धान्त। यद्यपि यह वेद में सर्वत्र व्याप्त है तथापि दूध में मक्खन की तरह। अतः मथकर ही प्राप्त किया जा सकता है। सारे वेदों से मथकर निकाला हुआ सिद्धान्त वेदान्त है एवं उन मंत्रों के संग्रहों को उपनिषद् कहते हैं। इसे ब्रह्मकाण्ड या ज्ञानकाण्ड भी कहा जाता है। यह सिद्धवस्तु प्रतिपादन-परक है। अतः सभी साधनों की निवृत्ति ही इसमें साध्य है। अवशिष्ट भाग धर्मकाण्ड है। धर्म साध्यवस्तु है। इसमें साधनों की प्रवृत्ति का प्रतिपादन है। प्रवृत्ति की पूर्णता में ही निवृत्ति की साधना संभव है। वस्तुतः साधक की अवस्थाभेद से दोनों भाग परम प्रमाण हैं। 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति' (गी. ३. ४) में योगेश्वर कृष्ण इसी तत्त्व का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं। धर्माचरण के बिना परमहंस संन्यास की प्राप्ति संभव नहीं। धर्म के द्वारा जिसका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध और एकाग्र नहीं हो गया है वह संन्यासग्रहण

करने मात्र से मोक्ष का अधिकारी नहीं बन जाता। यद्यपि दूध में सर्वाधिक पौष्टिक पदार्थ मक्खन है परन्तु मक्खन खाने मात्र से पुष्टि नहीं आती वरन उदर विकृत होकर कमजोरी बढती है। **मक्खन** से अतिरिक्त पदार्थ युक्त पूर्ण दूध ही पूरी पुष्टि करता है उसी प्रकार संपूर्ण वेद ही मानव को मोक्ष देता है उसमें से निकला हुआ कुछ हिस्सा नहीं। सेवन तो पूर्ण दूध का करना पडता है। विश्लेषण की दृष्टि से अधिक पुष्टि मक्खन देता है। उसी प्रकार सेवन तो संपूर्ण वेद का ही करना पडेगा यद्यपि साक्षात्कार तो मोक्ष का शीर्षक ही है। धर्म से ही अन्तःकरण में शक्ति आती है। मध्यकाल में इनको **सर्वथा** अलग कर देने से न निवृत्ति और न प्रवृत्ति ही ठीक रही एवं वैदिक धर्म का ह्रास होता गया। स्वाध्यायविधि से अनधीत होने के कारण उपनिषद् का अर्थ भी सन्दर्भरहित होगया एवं उपनिषद् अर्थों की अवहेलना से कर्म बाडम्बर मात्र बन गया। आजकल तो वेदों का कभी दर्शन न करने वाला भी वेदान्त का उपदेशक बन जाता है। कर्म का अर्थ दूकानदारी एवं उपासना का अर्थ प्रतीकोपासन मात्र होगया है। पौराणिक सन्दर्भों से वेदान्त का तात्पर्य निर्णय किया जाता है एवं शुष्क तर्कशास्त्र से मनन। जब तक वेदों का अध्ययन पुनः गौरवमय नहीं बन जाता वैदिक धर्म संरक्षण असंभव है।

संसार में न्यूनमात्रा में उपलब्ध पदार्थ की कीमत ज्यादा होती है एवं उतना ही अधिक संरक्षण उसका अधिक किया जाता है। हीरे की कीमत कोयले से अधिक होती है एवं उसे मंजूषा में बन्द रखा जाता है। कोयले की बोरी दालान में ही पडी रहती है। इसी प्रकार वेदों की प्राप्ति करने के लिये शिष्य को अधिक योग्य बनने की कीमत चुकानी पडती है एवं उसको विधिपूर्वक ही दान किया जाता है। पुराण-स्मृति आदि कोयले की तरह कम कीमत वाले होने से विशेष अधिकार एवं विधि की अपेक्षा नहीं रखते। वेदों में भी उपनिषद् सर्वाधिक अधिकारी सापेक्ष हैं। कर्मकाण्ड के अधिकारी मानवमात्र हैं। पर उपनिषदों के अधिकारी केवल 'नारद' ही की कोटी के हो सकते हैं। मायिक मल और कर्मज मल अनेक प्रकार के हैं। अतः उनकी निवृत्ति भी अनेक प्रकार की है। अतः धर्मकाण्ड विशाल

है। आणवमल एक ही प्रकार का है अतः उसकी निवृत्ति का एक ही साधन प्रत्यभिज्ञा है। ब्रह्मकाण्ड संक्षिप्त है। कामनाओं की अनेकता से उनके साधनों का प्रतिपादक वेदभाग विस्तृततर है। वेदों की इस विस्तृतता का पता ब्राह्मणों में लगता है। आत्मा की एकमात्र कामना पूर्ति का साधन उपनिषद् स्वभावतः न्यूनमात्रा में है। वेदमन्त्रों की मानो ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषद् व्याख्याएँ हैं। ब्राह्मणों में कर्म का विस्तार है तो आरण्यकों में उपासना और उपनिषद् में ज्ञान का। इन तीनों का उद्देश्य है कर्मणि चित्तशुद्ध्यर्थं ऐकाग्र्यार्थमुपासना। मोक्षार्थं ब्रह्मविज्ञानम् इति वेदान्तनिश्चयः॥ 'चित्तशुद्धि के लिये कर्म (ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादित हैं। चित्त की एकाग्रता के लिये उपासना (आरण्यकग्रन्थों में प्रतिपादित है। मोक्ष के लिये ब्रह्म का साक्षात्कार (उपनिषद्ग्रन्थों में) बताया गया है। बस यह तीन ही वेद के सिद्धान्त रूप से निर्णीत हैं। वेद अरवण्ड है अतः यह विभाग सुविधानुसार कल्पित है। मंत्रों में विषयविभाग नहीं है। मंत्रों में क्रम भी विवक्षित नहीं है। अतः सभी मण्डलों, अध्यायों, काण्डों में सभी विषय आते हैं। अतएव ब्राह्मणादि भी सर्वथा तत्तद्विषयक ही प्रतिपादन करते हों ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये। 'प्राध्यान्येन निर्देशा भवन्ति' प्रधान रूपों का ही निर्देश किया जाता है यह न्याय है। विशेषकर अनेकों मंत्रों का व्याख्यान तो ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् सभी में मिलता है एवं उनके कर्मानुसारी, उपासनानुसारी एवं मोक्षानुसारी व्याख्यान किये गये हैं। अतः विभक्त करने का प्रयत्न असंभव और निष्प्रयोजन ही नहीं अनर्थक भी है। कई विद्वान तो सारे ही मंत्रों के अनेकार्थ करने के पक्षपाती हैं। हमें तो वेद के प्रतिपाद्य विषयों का ज्ञान ही अभीष्ट होना चाहिये। अपने मनोनुकूल खींचातानी तो वेदों की बहुत हो चुकी। भगवान शंकरभगवत्पादाचार्य 'वेदवाक्यान्यपि नान्यार्थानि भवन्ति' (बृ॰भाष्य) कहकर हमें वेदों का अर्थ निर्णय करने को प्रवृत्त करते हैं, उन्हें अपने माने हुये अर्थ की तरफ लगाने को नहीं। 'पुरुषमतिवैचित्र्यमपेक्ष्य साध्यसाधनसंबंधविशेषान्नानेकधोपदिशति' (बृ॰भाष्य) मानवों की अनेक प्रकार की बुद्धियों को मद्देनज़र रखकर वेद साध्य और उनके प्राप्त करने के अनेकों विशेष साधनों का उपदेश करता है। वस्तुतः वेद की विशेषता है कि धर्म व मोक्षविषयक सभी साध्यों और साधनों का उसमें संग्रह है। अतः हमें वेदों द्वारा

उपदिष्ट मार्ग को समझने में प्रवृत्त होना चाहिये, उन्हें स्वमतविषयक बनाने के आग्रह में नहीं। संभव है कि वेद में अनेक ऐसे कर्म व उपासना के विषय मिलें जिनके विषय में हमारा ज्ञान अभी प्रकाश न डाल सके। ऐसे स्थलों पर जब तक पूर्ण प्रकाश न मिले हम श्रद्धावनत हो कर अपने अज्ञान को स्वीकारें। तंत्र, आगम, पांचरात्र, सांख्य, योग आदि वेद की एक या कुछ विशिष्ट विद्याओं का विस्तृत वर्णन मात्र है। अतः जहाँ तक जहाँ से भी प्रकाश मिले ग्राह्य है। सर्वज्ञ महेश्वर को छोड़ वेद की इयत्ता जानना संभव नहीं। तथापि अपनी सामर्थ्यानुसार उसमें प्रवेश करना ही है। भाष्यकार भगवान शंकर की कृपा से वैदिक अद्वैतवाद तो सुरक्षित है एवं वेदसिद्धान्त में कोई संदेह नहीं। इसीके सहारे हमें वेद की अन्य ग्रन्थियाँ खोलनी पड़ेंगी। एक और बात की सावधानता रखनी होगी कि हम वेदों के लुप्त भाग के नाम से संभव असंभव सभी बातों को सिद्ध करने का प्रयास न करें। जब तक तात्पर्यतः प्रतिपादन करनेवाला श्रुति भाग उपलब्ध नहीं हो जाता हमें सर्वमान्य विचारों की भी संभावना कोटि से आगे ले जाने का प्रयत्न न करना चाहिये। वेद धर्म और ब्रह्म के विषय में स्वतः प्रमाण है। वेदातिरिक्त सभी वेदमूलक सिद्ध होने पर ही प्रमाण हो सकते हैं। स्मृति प्रामाण्य विचार में भगवान शंकर भगवत्पाद ने इसे सर्वथा स्पष्ट कर दिया है। गुणत्रय जैसे सर्वस्मृतिपुराणतंत्रलोकस्वीकृत मत का निराकरण करने में उन्हें संकोच नहीं हुआ। इसी स्पष्ट वैदिक मार्ग का हमें भी अवलम्बन करना होगा। श्रुतिसम्मत सिद्धान्तों के अंश स्मृति तंत्र आदि जहाँ भी पाये जायें हमें स्वीकृत होंगे। वेदातिरिक्त ग्रन्थों में तत्कालीन एवं तद्देशीय परिस्थितियों, मान्यताओं एवं पौरुषेय भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्साओं की पुष्कलता स्वाभाविक है। अपौरुषेय अनादि, देशकालातीत वेद ही सर्वदोषों से अस्पृष्ट है। इसीलिये वेद प्रमाण मिलने पर आगे विचार अनावश्यक हो जाता है।

वस्तुतः संसार के सभी सिद्धान्तों को तार्किक एवं वैदिक मतों में विभक्त किया जा सकता है। जो वेद को अन्तिम प्रमाण स्वीकारते हैं वे वैदिक हैं, शेष तार्किक। तार्किकों में भी कई पौरुषेय हैं

कई दैव। जो अपने विचारों को किसी देवताविशेष के अनुग्रह से लब्ध बताते हैं वे दैव कहे जाते हैं। मुसलमान, ईसाई, बौद्धक आदि इसी कोटि के हैं। जो अपनी बुद्धि को ही तत्त्व का निर्णायक स्वीकारते हैं वे शुद्ध तार्किक हैं। तार्किकों में कई वेद का समर्थन करते हैं, परन्तु तर्क को प्रधानता देने के कारण उन्हें वैदिकों में नहीं गिना जा सकता। अवैदिक तार्किक वेदखण्डन का प्रयत्न करते हैं। कुछ उदासीनता भी प्रकट करते हैं। मीमांसादय ही वेद को परम प्रमाण मानते हैं।

विषयानुसारी वेद विभाजन भी किया जा सकता है। ईशावास्योप-निषद् माध्यन्दिन संहिता का चालीसवां अध्याय है। इसमें ज्ञान का प्रतिपादन है। दध्यङ्ङाथर्वण इसके ऋषि हैं। फिर भी इसमें कर्म और उपासना का वर्णन है। १८ मंत्रों की छोटी सी उपनिषद् में भी केवल तत्त्वज्ञान प्रतिपादक मंत्र ही हों ऐसा नहीं। इसका प्रधान कारण है वेद की सामूहिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि। साधनायुक्त साध्य प्रतिपादन ही उपादेय है। बृहदारण्यक, छान्दोग्य जैसी विशाल उपनिषदों में तो मानो सारे वेद का एक संक्षिप्त संस्करण ही उपस्थित कर दिया गया है। प्रकृत भूमाविद्या में भी सभी साधनों का संक्षिप्त वर्णन करके ही अन्त में तत्त्व प्रतिपादन होगा। इस प्रकार विषयानुसार विभाग न करके वेदों में विद्याओं का विभाग है। यथासंभव अधिकारी को उपयुक्त साधनों का वहीं उपदेश कर दिया गया है। यद्यपि विद्वानों को यह विभाग उपयुक्त नहीं प्रतीत होता परन्तु साधकों को इसीसे सुविधा होती है। इससे सिद्ध होता है कि श्रुति साधकों को विषय करती है, शुष्क पण्डितों को नहीं। कर्मबुद्धि की शृंखला या क्रमसमुच्चय श्रुति में सर्वत्र अक्षुण्ण है।

ॐ

विवेक

अनेक जन्मों के पुण्योदय होने पर ही सत्संग की प्राप्ति होती है। सत्संग मिला तो मोक्षद्वार खुला ही समझना चाहिये। स्वयं नारद बाद में लिखते हैं 'सत्संगो दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च'(भ.सू.) सत्संग दुर्लभ है पर मिल गया तो कभी व्यर्थ नहीं जा सकता। 'शिवोहमिति पर्यन्तं अनुभूतिर्भवेद्यदि। तदावलोकनादेव मुच्यन्ते सर्वप्राणयः॥ महत्पुण्य-समूहेन ब्रह्मनिष्ठो दृश्यते यदा। तस्य संगवशादेव संसारोनश्यते ध्रुवम्॥' यदि पूर्णाहन्ता अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ करुणा से दृष्टिपात मात्र कर देता है तो सभी प्राणी मुक्ति पा लेते हैं। अनेक पुण्यसमूहों के उदय होने पर ही ब्रह्मात्मैक्यदर्शी का दर्शन मिलता है। उसके संग करने से तो संसार निश्चितरूप से नष्ट हो जाता है। भगवान शंकर तो 'सामीप्यं शिवभक्तिधुर्यजनतासांगत्यसम्भाषणे'(शि.ल.२८) कहकर शिवप्रेमी के संग और संभाषण को सामीप्यमुक्ति ही मानते हैं। अथर्ववेद में प्रार्थना की गई है 'सं श्रुतेन गमेमहि'(१.१.४) हम वेदज्ञ पुरुषों के संगम को प्राप्त करें। 'सत्संगत्वे निःसंगत्वं' ध्रुव सत्य है।

नारदको आज सत्संग प्राप्त हुआ है। मानो जन्मजन्मान्तर के सभी पुण्यों का फल उदय हो गया। शिव की ही प्रतिमूर्ति स्वरूप सनत्कुमार ने उन्हें शिष्यभाव से स्वीकारा है। 'अनेकजन्मसु शुद्धधर्मसंचितनिमित्ततः केनचित्परमकारुणिकेन दर्शितयोगमार्गः'(मुं.भा.) में प्रतिपादित न्याय से योग का उपदेश करने को करुणामय गुरु तैय्यार हैं यह ज्ञान मात्र ही शिष्य के हृदय को अपूर्व उल्लास से परिपूर्ण कर देता है। नारद अपने को कृतकृत्य मानते हैं। उनका अशान्तचित्त गुरु की सन्निधि के प्रभाव से स्वतः अनायास शान्त हो गया है। मिट्टी का गुण घडे में भी आता है। 'कारणगुणाः कार्येऽनुवर्तन्ते' कारण के गुण कार्य में आते ही हैं। अतः शिष्यरूपी कार्य में गुरु रूपी कारण के गुण प्रविष्ट होंगे ही। आचार्य से ही विद्या प्राप्त का इसीलिये विधान है। स्वतंत्ररूप से विद्या प्राप्त होने पर भी सफल नहीं होती। कर्ण महावीर था। आचार्य परशुराम से मिथ्या भाषण करके उनकी कृपा को खो बैठा। इसीलिये युद्धकाल में विद्या ने काम न दिया एवं अर्जुन के हाथ मारा गया। इसी प्रकार गुरु कृपा से रहित विद्या अविद्या से युद्धकाल में साधक के काम नहीं आती एवं साधक यम के हाथों में पडता ही रहता है। ब्रह्मविद्या ब्रह्मनिष्ठ से ही मिलती है।

ब्रह्मनिष्ठ शिष्य की योग्यता होने पर ही उपदेश देगा। अयोग्य को उपदेश देने का निषेध है। ऊषर में बीज बोना मूर्खता भी है। संप्रदायप्रवर्तक आचार्य सुरेश्वर 'न चायमर्हते देयं वेदान्तार्थप्रवेशनम्' (नै. ४.७१) कहकर अयोग्य को विद्या दान का स्पष्ट निषेध करते हैं। भूमाविद्या के अन्त में भी 'मृदितकषायाय' विशेषण का प्रयोग है। अतः शिष्य को जिज्ञासा के पूर्व योग्यता प्राप्त करनी पडती है। योग्यता के बिना सारे संसार का ऐश्वर्य देने पर भी उससे विद्या प्राप्ति संभव नहीं। समग्र संसार का ऐश्वर्य ब्रह्मविद्या की तुलना में क्षुद्रतम है। विश्व के सभी भोग सान्त एवं परिच्छिन्न व सापेक्ष हैं। अनन्त अपरिच्छिन्न व निरपेक्ष सुख ब्रह्मविद्या का फल है। सारे सान्त मिलकर भी अनन्त नहीं बन सकते। अधिक विद्या या सम्पत्ति कभी कभी तो गर्व के द्वारा पतन का कारण बन जाती है। अतः शिष्य को योग्य गुणों से सम्पन्न होना होता है।

शिष्य की योग्यता वेदान्त ग्रंथों में 'साधनचतुष्टय' नाम से कही जाती है। विवेक, वैराग्य, शमादिषट्क एवं मुमुक्षा ही साधन चतुष्टय हैं। स्वाध्याय विधि से मंत्रों की प्राप्ति एवं गुरुशुश्रूषा, अग्निपरिचर्या आदि धर्ममीमांसा के साधन तो समान ही हैं। ईश्वरभक्ति के बिना तो ब्रह्मजिज्ञासा में प्रवृत्ति असम्भव है। पर इस प्रकार के साधन भूतपूर्वगत्या स्वीकारे जाते हैं। ब्रह्मजिज्ञासा में असाधारण कारण तो साधनचतुष्टय ही हैं। अतः इनका विस्तृत विचार किया जायगा। सत्यज्ञानानन्तानन्द परममहेश्वर में इनके बिना स्थिति असंभव है।

विवेक अर्थात् नित्य और अनित्य पदार्थों को अलग अलग करके जानना। भाष्यकार तो इसे अद्वैतसाम्राज्य प्राप्त करने में अश्व मानते हैं। 'विवेकाश्वसमारूढं तीव्रवैराग्यरवंगिनः। तितिक्षावर्मयुक्तस्य प्रतियोगी न दृश्यते।' विवेकरूपी घोडे पर सवार, तेज वैराग्य की तलवार लेकर, तितिक्षादिका बख्तर पहने मोक्षसाम्राज्य को जीतने वाली इच्छा वाले का कोई विरोधी खडा नहीं रह सकता। यह सभी साधनों का बीज है। युद्ध में प्रशिक्षित घोडा ही रक्षा करता है। अशिक्षित घोडा सवार की निश्चित पराजय करा देता है। इसी प्रकार विवेक के बिना साधक अज्ञानशत्रु से हार जाता है। अज्ञानने अनादिकाल से ब्रह्म को जीवभाव में बद्ध करके रखा है। क्षणभर भी छोडता नहीं। अतः सावधानी असम्भव है। जिनको जीव अपना समझता है वे सभी अज्ञान से जन्य एवं उसीके पक्षपाती और अनुवर्ती हैं। शत्रु की सीमा में ही रहकर युद्ध प्रारंभ करना है अतः विवेकरूपी अश्व की योग्यता और भी अधिक जरूरी है। सांख्यशास्त्र

तो विवेक को इतना गौरव देता है कि इसे मोक्ष का साक्षात् कारण मान लेता है। इसीलिये विज्ञों की उक्ति है जहां सांख्य की समाप्ति है वहीं से वेदान्त का प्रारंभ है। वेदान्त भी विवेक को महत्त्वपूर्ण जीव के स्थान पर रखता है। मन, इन्द्रियाँ, देह आदि सभी अज्ञानजन्य होने से शत्रु हैं। परन्तु ये ही शिव-प्राप्ति के साधन भी हैं। अतः इनमें विवेकपूर्वक रहना है।

विवेक का अर्थ है अलग अलग करके पहचानना। √विच्लृ धातु का अर्थ ही अलग करना होता है। अतः जिस प्रकार घोड़े को तोड़ा जाता है तभी सवारी के लायक बनकर युद्धभूमि के योग्य बनता है उसी प्रकार सभी प्रकार के पदार्थों में विचार द्वारा विवेक को भी पैना करना पड़ता है। सामान्य वस्तुओं में शक्ति को प्राप्त किया हुआ विवेक नित्यानित्यविवेक में समर्थ होता है। विवेक की आवश्यकता सामान्यतः सभी को है। परन्तु ज्ञान की कमी से विचार प्रौढ़ नहीं होता अतः विवेक निष्फल हो जाता है। हमारे एक मित्र को १५०) मासिक की नौकरी प्राप्त थी। दिन में १०-४ तक जाना पड़ता था। प्रातः सायं सत्संग, ध्यान, पूजा के लिये पर्याप्त समय मिलता था। हमारे एक भक्त सेठ ने उनकी हमारे प्रति निष्ठा देखकर ३५०) मासिक की नौकरी पर स्वयं रख लिया। पर अब प्रातः ७॥ बजे दुकान पर जाना पड़ता एवं प्रायः रात्रि में ८ बजे लौटते। सत्संग केवल रविवार को करते। ध्यान का समय कम कर दिया। शिवलिंग की नित्यपूजा के लिये ५) मासिक में पुजारी रख लिया। समय का अभाव रहने लगा। घर के लोगों के भोग बढ़े पर अशान्ति भी साथ ही बढ़ी। जब हमसे कहा तो हमने कहा 'भाई! तुमने विवेक किया पर विचार-हीन। धन को शिव से अधिक कीमती समझा। शान्ति तो वहीं है जहां शिव हैं। 'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञात्वा दुःखस्यान्तो भविष्यति।' (श्वे०६.२०) जिस प्रकार आकाश को चमड़े की तरह कमर में नहीं बांध सकते उसी प्रकार परमात्मा के ज्ञान के बिना दुःख का आत्यन्तिक नाश संभव नहीं ऐसी यजुर्वेद की घोषणा है। अतः विवेक को भविष्य में भी जाग्रत रखकर शिव को चुनकर अशिव को छोड़ने का ख्याल रखोगे तभी शान्ति मिल सकेगी।' परन्तु ऐसे विवेकी कम होते हैं क्योंकि विचार भूमि में विवेक घोड़े की शिक्षा दुर्लभ है। इस विवेकगुण से सम्पन्न होने के कारण ही ब्रह्मा के पुत्र एवं सर्वशास्त्रवेत्ता होने पर भी नारद योगेश्वर सनत्कुमार के प्रति उपसन्न हुये। शान्ति शास्त्रज्ञान में नहीं। लौकिक वैभव में

तो सर्वथा असंभव है। राज्य, वैभव, महिषी, कुमार, सम्मान वगैरः से सम्पन्न सम्राट भी दैहगत हृत्प्रहारों से व्याकुल होकर शान्त नहीं रह सकता। इसी प्रकार आत्मा में शिवविषयक अज्ञानरोग के रहते सुख व शान्ति असंभव है। नारद जैसे देवर्षि भी जब आत्मानुभूति के बिना संघर्षपाश से मुक्त नहीं हो पाये तो अन्य पशुओं की चर्चा ही क्या हो सकती है।

लौकिक विषयों में चतुर नर अपने को विवेकी मान कर उसी विवेक से गिरा दिया जाता है। अहंकारी अविवेकी होता है। सामान्य मानव तो समझाने पर मान भी जाता है परन्तु अहंकारी उसमें भी युक्त्याभासों से अपने को ही ठीक समझता है। श्रुति तो इसीलिये अहंकार को पाप मानती है। नातिमन्येत। पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः' (श.ब्रा.) अतिमान न करे। अतिमान हार का मुख है ऐसा यजुर्वेद बताता है। अहंकार वास्तविकता पर पर्दा डाल देता है। बलात् उल्टे रास्ते में भी डाल देता है। सुबुद्धि प्रेरणा भी करे तो अहंकार रुकावट डाल देता है। आत्मज्ञान दुर्लभ हो जाता है। अहंकार प्रयत्न पूर्वक बुद्धि के निर्णय में बाधा देता है। अतः गुरु के जगाने पर ही जागता है, स्वयं नहीं। एक बार जग जाने पर तो मैं 'जन्म, मरण, वासना, अज्ञान, विकार आदि सभी से रहित ही होता है। पर जागने के पूर्व अविवेक प्रवाह चलता ही रहता है। इसीसे बन्धन की गांठ और भी उलझती जाती है। वस्तुतः यही मरण है। प्राणवियोग को सामान्य जन मृत्यु मानते हैं। परन्तु सनत्कुमार ब्रह्मनिष्ठा में प्रमाद को ही मृत्यु मानते हैं। अज्ञान ने तुम्हारे प्रमाद के कारण ही तुम्हारे सम्बन्धियों को भी शत्रु बनाकर तुम्हें सब प्रकार से गुलाम बना रखा है। प्रमाद छूटा तो विवेक जाग्रत होने का साधन मिला विवेक जगा तो शनैः शनैः मुक्ति तक अवश्य पहुँचोगे। बच्चों की तरह मिठाई को सुखसाधन समझकर सामान्यक्षणिक सुख के लोभ से आमनात के शिकार मत बनो। ऐसा विपरीतविवेक भी प्रमाद का ही एकरूप है। 'प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायान्नकर्त्तव्यः कदाचन' पदार्थ की पूरी जांच करने पर ही विवेक सफल होता है। चुनना मात्र विवेक नहीं कहा जा सकता। अतः नित्य और अनित्य को अलग करना विवेक है। 'अनादिमायया सुप्तः' अनादिमाया से ब्रह्म राजा सोया पड़ा है। और इसी लिये उसके नौकर उसके धन की चोरी करते हैं। सम्प्रदायवेत्ता आचार्यों ने इस विषय में दृष्टान्त दिया है राजा आभीक का। मंत्री आभीक को एकदिन जंगल में घुमाने ले गये। वहाँ स्वभाववश शृगाल रो रहे थे। राजा के जिज्ञासा करने पर 'रहने के लिये मकानों की प्रार्थना करना' रोने का हेतु बताया गया। प्रमादी होने के कारण विचार बिना किये ही राज्यकोष से उनके मकानों की व्यवस्था का आदेश आभीक ने

दे दिया। मंत्रीगणों ने राज्य कोष का काफी धन इसी बहाने निकालकर कई दिनों तक गुलछर्रे उड़ाये। पुनः एकबार राजा को वहीं ले गये। राजा ने साश्चर्य पूछा 'क्या मकान अभी नहीं बने?' मंत्री ने कहा 'अबकी अन्नशेत्र की व्यवस्था की प्रार्थना कर रहे हैं।' राजा ने इसका भी आदेश दे दिया। भोजन की व्यवस्था के वर्षभर पश्चात् मंत्रीगणों ने वस्त्र की भी आवर्तक ग्रान्ट पास की। कुछ ही समय में राज्यकोष रिक्त हो गया। राजा को उदास देख कारण पता लगा रानी ने पिता से सहायता की याचना की। पिता ऐश्वर्य के साथ विवेकी भी था। सोचा जामाता के विशाल धनराशि की हानि का कारण जानना चाहिये। प्रबन्ध की न्यूनता को जाने बिना सहायता देने से तो कुबेर का कोश भी अपर्याप्त रहेगा। अतः पुष्कलमात्रा में धन के साथ अपने अर्थमंत्री को भी साथ भेजा। अर्थमंत्री ने हिसाब की जांच की तो 'शृगालव्यवस्था' के नाम बड़ी रकमों को पाया। समझ गया घोटाला यहीं है। राजा से पूछने पर सारी व्यवस्था का पता चला। मंत्री समझ गया पर पुराना था अतः राजाओं के स्वभाव से परिचित था। उसने प्रतिवाद न कर इस व्यवस्था का राजा के साथ निरीक्षण करने का अनुरोध किया। अब भण्डा फूटना ही था। राजा को कभी भी प्रमाद न करने की सलाह देकर अर्थमंत्री चलता बना। इसका अर्थ समझाते हुये सम्प्रदायाचार्य कहते हैं कि 'यथा सम्राडिवाधिकृतान् विनियुंक्ते... एवमेवैष प्राण' (प्र०३.४) परमात्मा ही राजा है। इन्द्रियाँ ही मंत्री हैं। विषय ही शृगाल हैं। अज्ञान के मन्दान्धकार में इन्द्रियाँ आत्मा को विषयसन्निधि में ले जाकर विषयप्रवृत्ति द्वारा उसके आनन्द को लूटती रहती हैं। आत्मा का आनन्द विषयों के नाम पड़कर इन्द्रियों को सुरभी करता रहता है। बुद्धिरूपिणी महिषी की प्रेरणा से सदाशिव का मंत्री गुरु वेदधन के साथ आकर विवेक जागृत करता है तब आभीक पुनः स्वकीय आनन्दधन को प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः इसमें दोष इन्द्रियों का नहीं स्वयं आत्मा के प्रमाद का है। 'आत्मैव रिपुरात्मनः' (गी०६.५) आत्मा स्वयं ही अपना शत्रु है। वेद बताता है 'पराचः कामान् अनुयन्ति बालाः ते मृत्योः यन्ति विततस्य पाशम्' (क०२.२) अल्पप्रज्ञावाले बहिर्गत विषयों के पीछे दौड़ते हैं अतः मृत्यु के सर्वत्र व्यापक पाश में पड़ते रहते हैं। योगीश्वर भगवान कृष्ण भी 'संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनयः' संस्पर्श से उत्पन्न भोगों को दुःख का कारण ही बताते हैं। विवेकयुक्त आत्मा ही अपनी भलाई करने में समर्थ है। इन्द्रियबन्धन से विवेकप्रज्ञा ही छुड़ा सकती है। सामान्यतः मोहपंक से निकलने के प्रयास में जीव अधिकाधिक धंसता जाता है। विवेकयुक्ति द्वारा ही मोह एवं ममता से छुटकारा संभव है। यथा प्रकाश के आगमन से ही अन्धकार निवृत्ति संभव है तथा विवेक से ही

मोहान्धकार हरता है। अन्धकार निवृत्त होने से ही प्रकाश आयगा यह विपरीत ज्ञान प्रकाशार्थ यत्न को रुद्ध कर देता है। प्रकाश के लिये प्रयत्न करने से उसकी सफलता से ही अन्धकार निवृत्त होता है। विवेक के लिये प्रयत्न करना होगा। उसके आने पर ममतादि हट जावेंगे। दोनों की एकाधिकरणता एक ही काल में संभव नहीं।

परन्तु अन्धकाराभावमात्र प्रकाश नहीं है। आंख के बिना अंधकार का ज्ञान भी असंभव है। इसी प्रकार इन्द्रिय व मन की वृत्ति का अभाव विवेक या ब्रह्मस्थिति नहीं है। हठपूर्वक कठिनता से साध्य इन्द्रियसंयम संभव है पर सहायक होने पर भी अधिक उपादेय नहीं। विवेक द्वारा सहज भी है एवं शिवज्ञान में उपादेय भी। वस्तुतः इसीलिये विवेक और इन्द्रियों का विरोध है। 'एषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः' (बृ० १।४।१०) इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओं को मनुष्य आत्मज्ञानी बने यह नहीं रुचता। अतः वे विघ्न करते हैं। काम, क्रोधादि भी मनरूपी इन्द्रिय की विघ्नरूपता ही है। मनु भी कहते हैं 'इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम्। सन्नियम्य तु ताम्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥' इन्द्रियों के संग से ही निःसन्दिग्धरूपसे सारे दोष प्राप्त होते हैं एवं उन्हीं के संयमन से सिद्धि प्राप्त होती है।

विवेकहीन अनित्य में नित्य और नित्य में अनित्य की भावना से भटकते रहते हैं। वे अविद्या के जाल में बंधते जाते हैं। सत्संग से ही सत्यासत्य, धर्माधर्म आदि का विवेक उदय होता है। वस्तुतः विवेक का अन्तिम निश्चय है 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या इत्येवंरूपो विनिश्चयः। सोयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः समुदाहृतः॥' (वि.चू. २०) ब्रह्म ही सत्य है एवं विश्व मिथ्या ही है ऐसा दृढ निश्चय ही वेद में विवेक कहा जाता है। यह विवेक ही सम्प्रार्थ्य है। अतः वेद में 'सं नः शिशीहि भुरिजोरिव क्षुरम्' हमारी बुद्धि को छुरे की तेजधारा के समान तेज बनाने की प्रार्थना की गई है। विवेक की तेजी से ही सारी वेदान्त साधना का प्रारम्भ है।

ॐ

वैराग्य

विवेक के पश्चात् ही वैराग्य का स्थान है। विवेक द्वारा नित्य को अनित्य से अलग करके जाना जाता है। नित्य को पकड़कर अनित्य को छोड़ना वैराग्य है। अनित्य को छोड़ना पूर्ण हो जाने पर मुक्ति के इतने समीप पहुँच जाता है कि सामान्यतः वैराग्य से ही मोक्ष कह दिया जाता है। अत एव पुराण एवं योग आदि शास्त्रों में वैराग्य का विस्तृत वर्णन है। बौद्ध धर्म में वैराग्य प्रतिपादन श्रेष्ठता से किया गया है एवं पश्चाद्वर्ती मध्यकालीन निर्गुण सन्त परम्परा में तो यह बीभत्स भाव को प्राप्त कर गया है। इन कवियों में आधुनिक मनोविज्ञान के विपरीतभोगवाद का उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है। मध्यकालीन सगुण परम्परा तो भोगवादी वज्रयान एवं सहजयान की छाया से प्रभावित वैष्णव मत की वह दुर्गन्धि है जो किसी भी सुसंस्कृत मानव में केवल जुगुप्सा को उत्पन्न करती है। राधा-कृष्ण के माध्यम से रीतिकाल में परमेश्वर नहीं कामुकता की आराधना की गई है। अतः वहाँ तो वैराग्य दर्शन दुर्लभ है। हाँ रामानन्दी धारा तुलसी के माध्यम से वैराग्य का सुघड़ वर्णन करती रही है।

मोक्षसाधनों में वैराग्य अन्यतम साधन है। बन्धन और मोक्ष का मूल कारण मन ही है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः' (ब्र. बि. २)। वैराग्य मन नियंत्रण का प्रथम साधन ही नहीं अन्ततक चलनेवाला साथी भी है। जीवन्मुक्त में भी वैराग्य सहज भाव से रहता ही है। वैराग्य से वीतरागता ही आती है। राग तो ज्ञान का प्रधान शत्रु है। जिस प्रकार मूल (Root) मृत्तिकादि से उपादेय सामग्री को वृक्ष को ग्रहण कराने का साधन है अतः मूल बिना वृक्ष नहीं टिक सकता उसी प्रकार वैराग्य भी नित्यानित्यमय संसार से नित्य को हटाकर उसे साधना को देता है अतः उसके बिना साधनावृक्ष न पुष्ट हो सकता है न बना ही रह सकता है। ज्ञान की प्राप्ति परिपोषण वृद्धि सभी वैराग्याधीन हैं।

वैराग्य और त्याग का भेद जानना आवश्यक है। विषयों का सेवन न करना त्याग है। विषयसेवन प्राप्त होने पर भी उनमें आसक्ति (राग) को उत्पन्न न होने देने का साधन वैराग्य है। त्याग वैराग्यप्राप्ति और वैराग्यदार्ढ्य का

साधन है। त्याग स्वतः साध्य नहीं है। रोगी को पथ्य पर रहना पड़ता है, परन्तु पथ्य द्वारा स्वास्थ्य प्राप्ति ही साध्य है। भेषज पथ्य बिना स्वस्थ नहीं कर पाती। पथ्य स्वतः साध्य नहीं है। स्वस्थ होने पर पुनः यथेष्ट खाने पर भी स्वास्थ्य से गिरता नहीं। इसी प्रकार त्याग द्वारा वैराग्य सिद्ध हो जाने पर पदार्थों के सान्निध्य में भी रागोत्पत्ति असंभव है। सदाशिव रागरहित है। राग तो रोग है। केवल पथ्य द्वारा उदरविकृति ठीक हुई प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में रोग दबा रहता है। उसी प्रकार केवल विषयों के त्याग से वैराग्य प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में राग अन्दर दबा रहता है। पदार्थसन्निधि में पुनः प्रकट हो जाता है। आसक्ति निवृत्त करना ही रोग को हटाना है। त्यागी का पतन संभव है, वैराग्यवान् का नहीं। वैराग्य प्राप्ति का प्रबल प्रतिबन्धक यह अन्धविश्वास है कि सुख विषयानुभव से ही होता है। वस्तुतः ज्ञान एवं आनन्द विषय के सम्बन्ध से उनमें प्रतीत होते हैं जरूर, पर हैं उनसे सर्वथा स्वतन्त्र मुक्ति में आनन्द ही आनन्द है। बन्ध आनन्द की आवृत अवस्था है। असत्त्वापादक आवरण जिस प्रकार आत्मसत्ता को आच्छादित करता है एवं अभानापादक आवरण आत्मज्ञान को ढांकता है, ठीक उसी प्रकार अनानन्दापादक आवरण आनन्द का आच्छादक है। इसका विस्तृत विवेचन लघुचन्द्रिकाग्रन्थ में द्रष्टव्य है। जैसे घट से अवच्छिन्न ब्रह्मनिष्ठ अज्ञान के नाश से वर्तमान ज्ञान के पर्दा हटाने को ही घटज्ञान होना कहा जाता है उसीप्रकार घटावच्छिन्नब्रह्मनिष्ठ अनानन्द के नाश से विद्यमान आनन्द का घूंघट खुलजाना ही घट का आनन्द कहा जाता है। अनावरण में घटवृत्ति कारण है इसलिये घट में ज्ञान और आनन्द का सम्बन्ध प्रतीत होता है। वस्तुतः शिव को छोड़कर आनन्दस्वरूप और कुछ भी नहीं है। श्रुति का उद्घोष है 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म राते दातुः परायणम्' (बृ० ३·९·२८)। भाष्यकार शंकरभगवत्पाद इसी पर भाष्य करते हुये कहते हैं 'न विषयविज्ञानवद् दुःखानुविद्धं, किं तर्हि? प्रसन्नं, शिवं, अतुलं, अनायासं, नित्यतृप्तं, एकरसम्। आनन्द विषयानुभव में दुःख से बिंधा रहता है। परन्तु यहाँ शान्त, शिवस्वरूप, सीमारहित, परिश्रम के बिना, सर्वदा तृप्तिकर एवं घटीबढ़ी से रहित एक जैसा आनन्द है। विषयरहित ज्ञान व आनन्द में सुषुप्ति का अनुभव भी प्रमाण है। गहरी नींद में मन और इन्द्रियों के न रहने से विषयसम्बन्ध असंभव है। फिर भी उठने पर 'बड़े सुख से सोया' कहकर आनन्द की स्थिति प्रकट करता है। पौनःपुन्येन सुषुप्ति में प्रवृत्ति से भी उस स्थिति में सुख का अनुमान होता है। बड़ी मेहनत

मखमल के गद्दे और सेमर की रुई के तकिये सुषुप्ति सुखानुभव के लिये ही बनवाये जाते हैं। आश्चर्य है कि सुषुप्ति में सुख लेकर भी निर्विघ्न मोक्ष सुख से हम घबराते हैं। मुक्ति में गहनान्धकार नहीं वरन् परम प्रकाश है। जब घटादि स्वल्पपदार्थों के अनुभव में ही इतना आनन्द है तो सर्व आवरणों को हटाने पर जो शिव का आनन्द होगा उसकी कल्पना भी परिच्छिन्न मन से करना असंभव है। केवल उल्लू के प्रकाश को अन्धकारवत् देखने से उसमें अन्धकार की सिद्धि नहीं हो जाती उसी प्रकार मायावृत के शिव को अनानन्द समझने मात्र से वह वैसा हो नहीं जाता। इस भय के कारण अनेक नर वैराग्य साधन से वंचित रह जाते हैं। निःक्षण विषयों के दुःखानुविद्ध सुख का स्वरूप एवं शिव के निरतिशय सुखरूपता का ज्ञान हुआ कि वैराग्य सहज बना। जब अज्ञान से आवृत भी शिव सुषुप्ति में इतना सुखप्रद है कि नाच, गान, खान, पान आदि सभी भोगों को छोड़ उसमें प्रवृत्ति हो जाती है तो निरावृत शिव का आनन्दस्वरूप तो कल्पनातीत हो इसमें कहना ही क्या है। ब्रह्माकारवृत्ति में यह आनन्द स्फुट होता है।

ऐसे आनन्द प्राप्त होने की संभावना होने पर भी आश्चर्य है नर विषयों की तरफ सुखप्राप्ति के लिये दौड़ता है। विषयों को विष से भी भयंकर माना गया है क्योंकि विष तो खानेवाले को एक बार ही मारता है पर विषय स्मृतिमात्र से जन्ममरण के चक्र में जीव को अनादिकाल से घुमा रहे हैं। एक विषय में जब इतनी सामर्थ्य है तो पांच विषयों की तरफ दौड़ने वाले की दशा तो चिन्त्य है ही। आचार्य शङ्करभगवत्पाद कहते हैं 'शब्दादिभिः पंचभिरेव पंच पंचत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः। कुरंग-मातंग-पतंग-मीन-भृंग नरः पंचभिरंचितः किम्॥' (वि.चू.७८) शब्द के लोभ से हरिण व्याध के हाथ पड़कर मारा जाता है। अन्यथा जिस तेजचाल से सदाशिव ने उसे अनुगृहीत किया है सिंह से भी प्रायः वह बच जाता है। केवल एक मात्र संगीत की मधुरध्वनि के श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य रस से वह मृत्यु के पंजे में पड़ता है। यह एक ही विषय उसके लिये पर्याप्त है। रोम का नीरो संगीत लोभ से ही मारा गया था। आज चलचित्रों में एवं आकाशवाणी के सुनने में न जाने कितना धन व श्रम श्रवणेन्द्रिय के लिये व्यय होता है। संगीत शिव को प्रिय है। पर वह सदुपयोग आज संगीत का नहीं रहा। कामवर्धक संगीत अथवा तालहीन झमेला ही आज संगीत के नाम से चल रहा है। इसके लोभ से हम अपने उद्देश्य से गिर जाते हैं। भगवन्नामकीर्तन आदि के नाम से भी जो संगीत चलता है वह भी इतना फिसलता होता है

कि किसी उच्च स्तर पर चढने का सोपान बनना उसके लिये असंभव है। राधाकृष्ण के नाम से उनमें अश्लीलता का अंश भी पर्याप्त होता है और प्रायः लयनाद आदि ज्ञान से शून्य एवं वैराग्यादि सद्गुणरहित द्वारा प्रचारित और प्रसारित होने से पतन का प्रशस्तमार्ग भी खुल जाता है। आत्मान्वेषण की इन कीर्तनों से हानि ही संभव है। अत्यन्त वैराग्यवान् पुरुषों द्वारा संगीतशास्त्र के सभी नियमों का पालन करते हुये अश्लीलता से रहित एवं उदात्तभावों से पूर्ण संगीत गायक व श्रोता दोनों को पवित्र करता है यह निःसन्दिग्ध है। परन्तु यह भीड में संभव नहीं। एकान्त या अपने समान विचार वालों के साथ बैठकर उपासना रूप में इसका अनुष्ठान किया जा सकता है। वैदिक गान के समान उत्तम गान साधक के लिये नहीं। स्वयं भी गायन करे तो लाभप्रद है। जो स्वयं संगीतज्ञ न हो तो वैदिक गानों का श्रवण करे। 'ब्राह्मणो नैव गायेन्न नृत्येत' (गोपथ. २.२१) लौकिक गान विषयक आदेश है। वैदिक गान तो ज्ञानी भी करता है ऐसा 'एतत्साम गायन्नास्ते' (तै.उ. ३.१०२) कृष्ण यजुर्वेद स्पष्ट प्रतिपादित करता है। प्रायः वैदिक गान लोकरंजक नहीं होता क्योंकि उसमें आसक्तिभाव की कमी होती है। परन्तु इसी लिये वह वैराग्योत्पादक बन जाता है। गान की आसक्ति की तरह परनिन्दा, परस्त्रीचर्चा, साहित्य आदि की आसक्ति भी मुमुक्षु को हेय है। वैदिकमंत्रों को छोड और सभी को छोड दे तो श्रवणेन्द्रिय के विषय शब्द का जय सहज हो जाय।

संसार के पशुओं में हाथी का विशेष स्थान है। विशालकाय होने पर भी इसकी गति में लावण्य है। यह अन्य पशुओं को अति तुच्छ समझता है। मानव जैसे छोटे प्राणी के अधीन इसको देखकर आश्चर्य होता है। परन्तु इसका कारण है स्पर्श का लोभ। हाथी पकडने की प्रक्रिया खेडा कही जाती है। सुन्दर सुसज्जित हथिनी को जंगल में छोड़ दिया जाता है। स्पर्श सुख की अनुभूति के लोभ से पराक्रमी गजराज उसके पीछे दौडता है। हथिनी सुशिक्षित होती है और हाथियों को गड्ढे के पास ले जाती है। गड्ढे प्यास से आच्छादित होते हैं। हाथी उसमें गिर पडता है। सांकलों से बांधा जाता है। हथिनी के स्पर्श का लोभी न होता तो मत्त गजराज को कौन कैदी बना सकता? संयुक्ता ने पृथ्वीराज का, द्रौपदी ने दुर्योधन का, सीता ने रावण का, क्लिओपेट्रा ने एण्टनी, उलायला ने सेम्सन का इसी स्पर्शलोभ से नाश कराया। नर इस लोभ से रहित होता तो संभवतः विश्व का इतिहास ही बदल जाता। मखमल, रेशम, नाइलोन, टेरीलेन के पीछे भी यही स्पर्श

है जो भारत जैसे गरीब देश को अन्न के लिये भी मोहताज बना रहा है।

बत्ती पर पतंग का फना होना तो प्रसिद्ध ही है। दीपावली के दिनों में असंख्यों मर जाते हैं। मानव की रूपासक्ति तो प्रसिद्ध है ही। वस्तुतः दृश्य सारा ही रूप है। नर में चक्षुरिन्द्रिय का प्राधान्य श्रुति युक्ति प्रत्यक्ष सिद्ध है। भाषा तक में देखना वाचक शब्द अवगति के अर्थ में रूढ हैं। मंत्र का भी दर्शन होता है। ब्रह्म का भी दर्शन होता है। जीव को द्रष्टा कहा जाता है। अतः सभी आसक्तियों में इसका अनुवर्तन प्रायः रहता है। गायक को, वक्ता को देखने की इच्छा बनी रहती है। सुन्दर अभिनेत्री को सामने रखकर पटगायिका (Play-Back) से श्रवण कराना अधिक रुचिकर माना जाता है। कड़ाही में बना काला हलुवा स्वादिष्ट होने पर भी कृष्णवर्ण का होने से कम प्रिय होता है। स्पर्श का लोभ प्रायः रूप के आधार पर ही बनता है। इस प्रकार रूपासक्ति को विस्तृत अर्थ में समझना पड़ेगा। निर्विषय मन करने में प्रायः रूप ही सबसे बड़ी अड़चन बनता है। भिन्न भिन्न देशों में भ्रमण, नगरों का दर्शन, चलचित्र, नाटक, गणिका-चित्र (Pick-up), गृह प्रसाधन, शृंगार प्रसाधन आदि सब रूपासक्ति के ही प्रतीक हैं। इनमें समय, वित्त सभी का अपव्यय है। साधक को इस आसक्ति को निवृत्त करने में विशेष जागरूक रहना चाहिये।

समुद्र में विहारकरनेवाला महामत्स्य जीभ के लोभ से कांटे में फंसकर मत्स्यभक्षी की थाली में पहुंच जाता है। जीभ के लोभ से मानव शास्त्रविरुद्ध पदार्थों का खानपान भी कर लेता है। स्विफ्ट ने लिखा था कि आयरिश बच्चे यदि ब्रिटिश कलेवे में काम आ जावें तो आयरिश जनबुद्धि एवं ब्रिटिश भोजन दोनों समस्याएँ साथ ही हल हो जावें। दिल्ली के एक होटल में सुना गया था नरमांस, विशेषकर बालकों का, बहुत कीमत वाले मेनू में दिया जाता था। परन्तु पुलिसने छापा मारकर भारतीय गणतंत्र की राजधानी के इस विशेष आकर्षण को समाप्त कर अपनी धर्म-सापेक्षता का परिचय दिया। जीभ का लोभ मानव को कहां तक ले जा सकता है इसका यह एक नमूना है। वेद का उद्घोष है 'न मांसं अश्नीयात्' (तै.सं.२.५.५) मांस न खाय। उसी भारत में आज सहस्त्रों जीवों को मारकर इस पापिन जीभ को तृप्त करने का प्रयास किया जाता है। जीभ तो यहीं रह जावेगी, दण्ड भोगेगा जीव। सर्वत्यागी साधु भी प्रायः रस के वशीभूत देखे जाते हैं। खाये बिना चलता नहीं। अतः सावधानी से ही इसका वशीकरण संभव है। नर स्वभाव के वशीभूत आहार के नियन्त्रण को तोड़कर अनियमी बन जाता है। भौतिक मन होने से अन्नाधीन है। इसी विद्या में सनत्कुमार 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' आहार की पवित्रता से चित्त की पवित्रता का प्रतिपादन करेंगे। आहार का वास्तविक विस्तृत ग्रहण करने से

भोजन का संग्रह तो स्वतः सिद्ध है। रसमें आसक्ति भोजन सम्बन्धी विवेक को प्रतिबद्ध कर देती है। हैजे के फैलने पर सरकारी विज्ञप्ति निकलने के बाद भी दहीबड़े व चाटों की दुकान में भीड़ कम नहीं होती। यदि प्रत्यक्षसिद्ध विज्ञान की भी अवहेलना हो जाती है तो शास्त्रसिद्ध की अवहेलना में क्या आश्चर्य? इस विषय में पाश्चात्यों के संयम से हमें शिक्षा लेनी चाहिये। अपने चटोरेपने को छिपाने के बहाने के लिये 'दैववाद' का सहारा सर्वथा अनुचित एवं हानिकारक है। पेट्रोल में पानी मिलाकर मोटर ठीक नहीं चलाई जा सकती इसी प्रकार अशुद्ध आहार से असंस्कृत मन को शिवचिन्तन में नहीं लगा सकते। कमसे कम सातवर्ष आहार की पूर्णशुद्धि रखने पर अन्नदोष से चित्त मुक्त हो जाता है ऐसा अनुभव है।

भ्रमर पुष्पगन्ध में आसक्त होकर (चंपक की गन्ध से) मारा जाता है। प्रसिद्धि है कि भ्रमर काठ में भी छेद कर देता है। एक भ्रमर दिवस के अवसान में कमल के मकरन्द का मधुर रसास्वाद ले रहा था। सूर्यास्त होने से कमल ने अपने को समेटा और भ्रमर अन्दर कैदी बन गया। कठफोड़ुए को कमल काटना आसान था। पर गन्धप्रेमी यह कैसे करे अतः सोचने लगा 'रात्रि-र्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।' रात बीत जायगी एवं सबेरा होने पर जब आदित्य उदित होंगे तो पुनः कमल की शोभा मुस्कराहट से बिखर पड़ेगी। तब मैं भी निकल जाऊँगा अभी व्यर्थ प्रेमाश्रय को क्यों नष्ट करूँ। 'इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार।' ऐसा सोच ही रहा था कि एक हाथी ने जड़समेत उस कमल को उखाड़कर खा लिया। गन्धलोभ से ही भ्रमर मारा गया। जीवरूपी भ्रमर भी विषयसुख की गन्ध के लोभ से मारा जाता है। आज नहीं तो कल कभी तो सुख मिलेगा इसकी आशा लगी रहती है। हाथी रूपी मृत्यु के वश में इसी लोभ से अचानक पड़ जाता है। यजुर्वेद की आनन्दमीमांसा में इसीलिये विषयसुख की अल्पता का सुन्दर प्रतिपादन है। इसीलिये अथर्ववेद कहता है 'अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः। यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते।।' अज्ञानी सब प्रकार से अविद्या में रहते हुये भी अपने को कृतकृत्य मानते हैं। चूंकि राग के कारण कर्मी तत्त्व को नहीं जान सकते अतः दुरवार्त हो कर लोक से नीचे गिरते हैं। राग या मोह के कारण ही जानते हुये भी फंसा रहता है।

प्रश्न हो सकता है फिर सुखी कौन? महाशैव भर्तृहरि कहते हैं 'धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायताम् आनन्दाश्रुकणं पिबन्ति शकुना निःशंकमंकेशयाः।' वे ही धन्य व सुखी नर हैं जो पर्वत की गुफाओं में रहकर परज्योति का ध्यान करते हुये आनन्द के उन (नीवार शीतल) आंसूओं को पुलकित होकर बहाते हैं जिन्हें उनके गोद में निःशंक बैठे हुये पक्षी पी जाते हैं। यहाँ

विद्वान् गिरि से हिमालय, अर्बुदाचल आदि का ग्रहण भी करते हैं और महामेरु या सहस्रार अर्थ भी स्वीकारते हैं। सहस्रार के मध्य शिवलिंग ही ज्योतिर्लिंग है जिसका ध्यान किया जाता है। उस आनन्द के प्रवाह को इन्द्रियों रूपी पक्षी ग्रहण करके निर्भय बन जाते हैं। यही वह सोमरस है जिसको पीकर वेद अमर होना बताते हैं। ऐसे योगी ही वस्तुतः आनन्द प्राप्त करते हैं। हमारी तो यह दशा है कि 'अस्माकं तु मनोरथोपरचित-प्रासाद-वापी-तट-क्रीडा-कानन-केलिकौतुकजुषां आयुः परिक्षीयते॥' केवल मन के द्वारा कल्पित महल, बावडी, या समुद्रकिनारे के खेलने वाले बगीचों में लीलाओं का स्वप्न देखते जीवन बीता जाता है। जाग्रत् अवस्था में भी भोग पूर्ण नहीं फिर भी स्वप्न या आशा के महल बनाकर बहुमूल्य समय नर खो देता है। भर्तृहरि ने यहाँ समाधि काल में अहिंसा प्रतिष्ठा का निर्देश भी निर्भय पक्षी के दृष्टान्त से कर दिया है। वस्तुतः ऋग्वेद में तो स्पष्ट ही कहा है 'न वा अरण्यानि-र्हन्ति अन्यश्चेन्नाभिगच्छति। स्वादो फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि षद्यते॥' (१०।१४६) वनदेवी किसी को नहीं मारती यदि अन्य बनकर कोई न जाय। स्वादिष्ठ फल यहाँ यथेष्ट खाने को उपलब्ध होते हैं। अन्य बनना अर्थात् वन्य से भिन्न अपने को समझना। नागरिकों का भय उन्हें भी चौंकाता है और दूसरे पशु आदिओं को भी चंचल बनाता है। ठीक जिस प्रकार कलकत्ता के चौरंगी में ग्रामीण स्वयं भी मृत्तरों से डरता है एवं मृत्तर-चालकों को भी भयभीत करता है। अरण्य से यहाँ संसार अरण्य भी लिया जा सकता है। शिव से अन्य बनकर जो भेददर्शी है वही भय को प्राप्त होता है। संसार परमेश्वर ने स्वादुफल अर्थात् पुण्य भोग के लिये बनाया है। वेदों में सभी कामनाओं की पूर्ति के साधनाओं का प्रतिपादन है। परन्तु भेदधी से पाप में प्रवृत्ति करके नर दुःख उठाता रहता है। वस्तुतः शिवकृपा से सभी भोगों की प्राप्ति हो जाती है। जो भी हो यहाँ अन्यधी हीन को वन में भयरहितता बताकर 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः' (पा० ३५ का निर्देश किया है। भेददर्शी में वास्तविक अहिंसा प्रतिष्ठा असंभव है।

सुख विषयों में नहीं आत्मा में है। अतः विषयों से सुखप्राप्ति की भ्रान्ति हटने पर उनसे वैराग्य एवं आत्मा में राग स्वतः सिद्ध हो जाता है। बिना वैराग्य के आनन्दप्राप्ति संभव नहीं। भगवान शंकर इसीलिये कहते हैं कि 'अकामहतत्वं तु वैराग्यतारतम्योपपत्तेः उत्तरोत्तरभूम्यानन्दप्राप्ति-साधनमित्यवगम्यते।' (ब्र०भा०) आनन्दप्राप्ति की न्यूनाधिकता वैराग्य की न्यूनाधिकता पर निर्भर करती है। वैराग्य की अपेक्षा अकामहत शब्द में व्यंजना का आधिक्य है। काम नर को हत कर देता है। स्त्री की कामना से मरे हुये पुरुष को ही मानो स्त्री की प्राप्ति पुनरुज्जीवित कर देती है। पर जो स्थिति स्त्रीप्राप्ति पर इसकी है वह स्त्री की कामना से रहित पुरुष को बिना स्त्री के स्वतः प्राप्त है। अतः विचार करने पर प्रतीत होता

है कि स्त्री कामना से वर्तमान आनन्द अव्यक्त और स्त्रीप्राप्ति से पुनः अभिव्यक्त होता है। जैसे विद्यमान भी उष्णत्व चन्द्रकान्तमणि से प्रतिबद्ध हो जाता है और उसके हट जाने पर व्यक्त हो जाता है। काम चन्द्रकान्तमणि की तरह है। अतः विषय भी कामनिवृत्ति (अकामहतता) के द्वारा ही सुख देता है। कामाभाव में विषय सुख नहीं देता यह प्रत्यक्ष सिद्ध भी है। भूख में ही अन्न सुखद होता है। पेट भर जाने पर जबर्दस्ती खिलाने से उल्टा दुःख होता है। सर्दी में पशमीना सुखद पर ज्येष्ठ की धूप में दुःखद ही होता है। लाख रुपये का घाटा हटाने का विचार करते हुये सेठ जी को स्त्री व पुत्र भी आकर दुःख ही देते हैं। अतः आनन्दोपलब्धि अकामहतावस्था में स्वाभाविक है, चाहे वह अकामहतता विषयजन्य हो अथवा स्वभावतः हो। परन्तु विषयकामना अनंत हैं। अतः विषयजन्य अवस्था क्षणिक होती है। कालान्तर में वही विषय पुनः काम्य बन जाता है। अतः यह उपाय शिरोव्यथा में वेदनानिग्रहरस (aspirin) खाने की तरह लाक्षणिक (Symptomatic) है। अन्तःस्थ रोग काम का जड़ से नाश ही वैद्य को अभीष्ट होता है। दुःखरोग का निदान मन में स्थित कामना है। उसकी निवृत्ति के लिये अविद्यानाशक आत्मज्ञान की उपलब्धि आवश्यक है।

मृग की नाभि में कस्तूरी होने पर भी मृग को पता नहीं चलता। स्वतः अपनी सुगन्धि में मुग्ध उसे पाने को दौड़ता फिरता है। अन्त में मारा भी जाता है। इसी प्रकार जिस आनन्द के लिये जीव दौड़ रहा है वही उसका स्वरूप है। परन्तु अज्ञानवश उसे न पाकर मारा जाता है। जितना मृग तेज दौड़ेगा उतना ही पसीने के कारण गन्ध की अधिकता से उद्देश्य की नजदीकी को अनुभव करेगा। उसी प्रकार काम की अधिकता एवं अधिक आयास से लब्ध पदार्थ में भी अधिक आनन्द प्राप्त करता है। पर लक्ष्य तो उतना ही दूर बना रहता है। अतः केवल आत्मज्ञान ही आनन्द को प्रस्फुटित कर सकता है। ज्ञान द्वारा नष्ट होने पर अविद्या जन्य काम नष्ट होगा यह तो स्पष्ट ही है। विषयों में लिप्त या विक्षिप्त मन स्वतः प्राप्त आत्मा के शिव रूप आनन्द से वंचित रहता है। काम द्वारा प्रवृत्ति सफल होने पर यह लिप्तता या विक्षेप दब जाने पर मन पुनः स्वकारण आत्मा की तरफ जाकर आनन्दस्वरूप को पाता है। विषयानन्द भी वस्तुतः विषयजन्य नहीं है वरन् विषयभोगजन्य कामनिवृत्ति से जन्य है। अतः कामनिवृत्ति ही आनन्द का एकमात्र हेतु है। कामनिवृत्ति के हेतुओं की भिन्नता से इस कार्यकारणभाव में कोई फर्क नहीं पड़ता। अखिलकामनिवृत्ति से जन्य ही अखण्ड आनन्द होगा। अविद्यानिवृत्ति ही इसमें हेतु है। यही परम महेश्वर का नित्यानन्द है।

कुछ पाश्चात्य विचारकों ने एवं उनसे प्रभावित भारतीयों ने भी इस कार्यकारणभाव के खण्डन का प्रयास किया है। वस्तुतः इस कार्यकारणभाव को यद्यपि बौद्धों ने भी स्वीकारा है तथापि वेदान्त से उनका सैद्धान्तिक भेद है।

बौद्ध दर्शनों की 'तन्हा' तृष्णा का अपभ्रंश है जो काम की तरह व्यापक भाववाला शब्द नहीं। किंच बौद्धदर्शन में तृष्णानिवृत्ति अभावरूप है भावरूप नहीं। अतः तृष्णा-निवृत्ति से आगे कुछ फल नहीं। वेदान्त में आत्मानन्द भावातीत एवं काम रूपी आच्छादक के हटने से व्यक्त हो जाता है। कामकाल में भी आनन्द तो रहता ही है। वस्तुतः सूक्ष्म दृष्ट्या काम काल में आनन्द को विषय में मान लिया जाता है। पुनः विषय प्राप्ति से उसे प्राप्त मान लिया जाता है। अतः आनन्द और अवरुद्ध आनन्द ही हैं। दुःख नामक कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है। अतएव दुःख केवल अविद्याकाल में ही रहेगा, अविद्यानिवृत्ति काल में नहीं। दुःख कल्पित है, अध्यस्त है एवं आनन्द अधिष्ठान है, सत्य है। यह वैदिक दृष्टि बौद्धों की 'सर्वं दुःखं दुःखं' से अत्यन्त भिन्न है। बौद्ध निराशावादी है एवं वैदिक आशातीतवादी। अतः बौद्धों में 'सुख दुःखाभावमात्र है' माना गया है वैदिकों में नहीं। इसी प्रकार नैय्यायिक मोक्ष को ज्ञान व आनन्द से रहित मानते हैं, वेदान्ती नहीं। जो यह कहा जाता है कि मार्ग में जाते हुये अकस्मात् सौन्दर्य दर्शन से सुख होने में कामनिवृत्ति को कारण नहीं मान सकते वह भी काम के स्वरूप को न जानने के कारण ही। काम और तृष्णा में भेद है। कमी का अनुभव तृष्णा में है। कमी का अनुभव न होने पर भी काम बना रहता है। काम ज्ञातविषयक भी हो सकता है, अज्ञातविषयक भी। सौन्दर्य दर्शन की तृष्णा न होने पर भी सौन्दर्य प्रेमी को सभी समय अव्यक्तरूप से सौन्दर्य की कामना तो रहेगी ही। इसी कामनिवृत्ति से सुख की स्फुटता होती है। जिसमें सौन्दर्य का प्रेम नहीं है, वह ऐसे दृश्य को देखते हुए भी अपने सिगरेट के धूंए की गल्प में ही मग्न रहता है एवं किसी सुख को उस दृश्य से नहीं पाता। सौन्दर्य प्रेमी भी यदि किसी प्रबलतर अन्य व्यक्त काम के वशीभूत होता है तो वह उस सौन्दर्य सुख का अनुभव नहीं कर सकता। अतः सर्वत्र कामनिवृत्ति ही सुख के अभिव्यक्तीकरण में एकमात्र कारण है। काम व्यक्त या अव्यक्त हो यह विषय दूसरा है। अकामहतता या वैराग्य ही उत्कृष्ट शिव के आनन्द को दे सकता है।

कई विचारक वैराग्य को सारथी मानते हैं। अज्ञान से युद्ध करना महायुद्ध ही है। बड़े बड़े महारथी इससे पराजित हो चुके हैं। कर्ण को विरोधी सारथी शल्य ने हतोत्साह करके हरा दिया। कृष्ण रूपी सारथी को पाकर ही अर्जुन की विजय निश्चित हो गई थी। वैराग्य रूपी सारथी आत्मज्ञान का सहायक होने से विजय निश्चित करा सकता है। राग रूपी सारथी पर विश्वास करने वाला कभी अज्ञान से जीत नहीं सकता। साधारणतः नर जीवनरथ को राग रूपी सारथी के हाथ छोड़कर मारा जाता है। राग जिधर ले जाता है उधर ही जाता है एवं अशास्त्रीय आचरण द्वारा जन्ममरण के चक्र में पड़ा रहता है।

अनेक साधक इसी भरोसे बैठे रहते हैं कि जब गुरु कृपा करेंगे तब राग होगा। हमारे वश का नहीं। गुरु ज्ञान देगा

तब तक हमारा क्या कर्तव्य है इसका विचार नहीं करते। भारत आज हितवादी (welfare) राज्य बन गया है। अतः हमारे हित का चिन्तन नेता करें। हमें कुछ कर्तव्य नहीं। यह भावना राष्ट्र को रसातल ले जा रही है। यह नया गुरुडम चल पड़ा है। आध्यात्मिक राज्य में भी इसी गुरुडम ने भारत को विनाशकारी कगार पर खड़ा कर दिया है। 'मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः वयं सोमस्य विश्वह प्रियासः' (ऋ०८)* हम पर नींद न शासन करे, न हम व्यर्थ बातों में समय खोवें वरन् उमा महेश्वर के प्रिय सभी कार्यों में निरन्तर लगे रहें" की घोषणा करने वाले वैदिक आज सबसे अधिक आलसी व बकवादी बन कर केवल भगवान के नाम लेने मात्र से भगवान को अपना कर्जदार समझने लग गये हैं। परमेश्वर के काम हम ही कर सकते हैं। जीव से ही वह सत्प्रवृत्ति के द्वारा करवाता है। यह भाव छोड़कर हम उसी को सब करने को कह कर अपना कर्तव्य भूलते जा रहे हैं। वैदिक तो कहता है 'मा भेम मा श्रमिष्मो ग्रस्य सख्ये तव' (ऋ०८) हे शिव आपके मैत्री की कृपा प्राप्त कर न हमें भय है और न हम थकेंगे। निरन्तर कर्तव्य करने वाले पर ही शिव कृपा होती है। 'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः' (ऋ०४) अपना कार्य पूर्ण करने में जब तक थक नहीं जाता परमेश्वर की कृपा नहीं होती। आश्चर्य होता है कि ऐसे वेदों को मानने वाला वैदिकधर्मी किस प्रकार गुरुडम में फंस गया। इसी प्रकार 'उद्धरेदात्मनात्मानं' (गी०६) अपना उद्धार स्वयं करे का सन्देश देनेवाले भगवान कृष्ण के अनुयायी 'श्रीकृष्णः शरणं मम' के जप से अपने को कृतार्थ मानने लग गये हैं। अतः साधक को सावधानी से अपने कर्तव्य का चिन्तन कार्य है केवल किसी गुरुडम के भरोसे बैठकर मनोरथ के घोड़े दौड़ाना नहीं।

फूल खिलने पर भौंरों को निमंत्रण नहीं देना पड़ता। इसी प्रकार साधन-चतुष्टय सिद्ध हो जाने पर ज्ञान के साधन स्वयं उपस्थित हो जाते हैं। असम्पन्न साधक में न ब्रह्मविद्या उत्पन्न होगी और न स्थिर। शेरनी का दूध स्वर्णपात्र में ही दुहा जा सकता है ऐसी प्राचीन उक्ति है। वैराग्यहीन पुरुष तो सदाशिव के स्वरूप को समझ ही नहीं पायगा और समझ भी गया तो राग से गिर जायगा। श्रुति का स्पष्ट कथन है 'न प्रवेदयन्ति रागात्' (मुं०३.२.९)। दुःखानुभव से यद्यपि वितृष्णा उत्पन्न होती है, वैराग्य उत्पन्न नहीं होता। वैराग्य तो विवेक का ही फल है। नर विषयों को बाहिर ढूंढकर वहाँ न पाकर, गेंद की दीवाल में ठोकर खाकर वापिस आने की तरह, आत्मतत्त्व में जब लौटता है तभी वास्तविक वैराग्य माना जाता है।

दुःखानुभव काल में श्मशान वैराग्य उत्पन्न होता है। पर भोग की पूर्णता में जो वितृष्णा है वही उत्तम है। श्मशान वैराग्य दुःखनिवृत्त होने पर निवृत्त हो जाता है। कुन्ती के पास कृष्ण महाभारतविजय के पश्चात् अनेकों वर्षों तक नहीं गये। जब हस्तिनापुर पहुँच कर सभी से मिले तो

सभी प्रसन्न थे। केवल कुन्ती ने कहा 'विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो। भवतो दर्शनं यत् स्याद् अपुनर्भवदर्शनम्।' जब आपके दर्शन मिलते थे वही समय विपत्ति का होने पर भी मुझे प्रिय था। ऐसी विपत्ति बराबर बनी रहे तो अच्छा। कुन्ती वैराग्यवतीथी अतः दुःखों के निवृत्त होने पर भी कृष्ण को चाहती थी। अन्य लोग केवल विपत्ति निवृत्यर्थ कृष्ण को चाहते थे। इसी प्रकार सुख हो या दुःख संसार में राग न हो तभी वैराग्य समझना चाहिये। प्रायः लोग दुःख की महिमा बताते हैं 'सुख के माते सिल पड़ो जो नाम हृदय से जाय। बलिहारी वा दुःख की जो पल पल नाम रटाय॥' पर यह वैराग्य के स्वरूप को न समझने का फल है। दुःख में चाहे नाम रटे पर वह काम्य विषय प्राप्त के लिये होता है। विषय प्राप्ति के बाद हट जाता है। सुख में भी जो विषय को नहीं शिव को ही काम्य माने वही वैराग्य है। अतः वैराग्य की परीक्षा सुख में है। वस्तुतः भारत में कृतज्ञता का जो वैदिक भाव था वह नष्ट हो जाने से सुख में हम शिव से दूर हो जाते हैं। पाश्चात्य देशों में छोटे से छोटे कार्य के लिये 'थैङ्क्स' की सुन्दर प्रथा है। इसी प्रकार परमेश्वर का भी वे आभार प्रकट करते हैं। वेदों में भी सुन्दर आभार प्रदर्शन का मार्ग बताया गया है। 'त्वं हि नः पिता वसो! त्वं माता शतक्रतो! बभूविथ, अधा ते सुम्नम् ईमहे' हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर! तू मेरा पिता एवं माता बना। तेरी कृपा प्राप्त करने के लिये हम तेरा आभार पूर्वक नाम लेते हैं। यह मंत्र ऋग्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद तीनों में आता है। परन्तु पाश्चात्य संस्कृति 'थैङ्क्स' में कर्तव्य समाप्त मान लेती है। भारतीय संस्कृति कृतज्ञता को सर्वदा स्वीकार करती है। किंच सभी परिस्थितियों में वस्तुतः शिव कृपा ही है अतः वास्तविक कृतज्ञता तो महेश्वर के प्रति ही प्रकट करनी चाहिये ऐसी वेद की मान्यता है। भारतीय शिष्टाचार में यदि पुनः यह शिव के प्रति आभार प्रदर्शन प्रारंभ हो जाय तो दृष्टि में फर्क शीघ्र आ सकता है। प्रातः सायं की सन्ध्या, प्रार्थना या अग्निहोत्र की आहुतिओं में यही भावना प्रस्फुट है। नमः या स्वाहा भी आभार प्रदर्शन के शब्द हैं। वैदिक काम्य कर्म भी नित्य नैमित्तिक कर्मों का नियम से पालन करने वाले को ही फलप्रद होते हैं। इसमें भी यही भाव है कि परमशिव से हमारा सम्बन्ध केवल किसी कार्य विशेष के लिये नहीं वरन् सर्वदा है। जो इन नित्य कर्मों को नहीं करता वह तो केवल कामी होने से कभी वैराग्य को प्राप्त ही नहीं कर सकेगा। इसीलिये वैदिक काम्य कर्म एवं हनुमान जी को लड्डू की मनौती मानने में जमीन आसमान का फर्क है। प्रत्येक पर्व त्योहार में भी ईश्वरपूजा का यही तात्पर्य है।

कुछ लोगों की मान्यता है आभार का अनुभव अन्दर करना चाहिये प्रदर्शन नहीं। परन्तु वे भूल जाते हैं कि इससे शिष्टाचार नहीं बन पाता और बालक मानसभाव को सीख नहीं सकते। अनुभूति के बिना प्रदर्शन मिथ्याचार है यह तो सभी को सम्मत है। जिस प्रकार मंगलाचरण के प्रसंग में आचार्यों का निर्णय है कि 'शिष्यमार्गप्रदर्शनार्थं बाह्य मंगल आवश्यक है वैसा ही यहाँ भी समझना चाहिये। किंच बाह्य प्रदर्शन करते करते भी भावनिर्माण होजाता है

अतः दुःख में ही नहीं सुख में भी शिव का नाम रटने की टेव डालनी चाहिये। दुःख के गौरव का बखान करते समय यह न भूलना चाहिये कि दुःख पाप का ही फल है। ईश्वरकृपा से सुख होता है, दुःख नहीं। सत्यनिष्ठा से कठिनाइयाँ दुःख मालूम पाती हैं परन्तु उनमें विजयी होने से जो सुख मिलता है वह अनुभवी ही जानता है।

कभी कभी दुःख से उत्पन्न होने पर भी वैराग्य बना रहता है। भर्तृहरि या मंकी में यह देखा गया है। परन्तु यहाँ भी दुःख से विचार उत्पन्न हुआ और विचार से वैराग्य पुष्ट हुआ। अन्यथा दुःख हटने पर 'निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः' कारण हटने से कार्य भी कि हट जाता। मूंग या चना पानी में भिंगवा कर खाने से अधिक जीवातु (Vitamin) प्राप्त होते हैं या स्वाद, पानी व मिट्टी के संयोग से पुष्ट अंकुर निकलता है। इसी प्रकार दुःख से अंकुरित वैराग्य भी विचार से पुष्ट हो सकता है। विचाराग्नि में ही वैराग्य पक कर पवित्र बनता है। इसी परिपाक के कारण वैराग्य के ५ भेद बन जाते हैं:- १. मन्द. २. तीव्र. ३. तीव्रतर. ४. तीव्रतम एवं ५. पुष्ट।

जोर के जुखाम या ज्वर में खाना अच्छा न लगना मन्द वैराग्य है। स्वाद प्रतिबद्ध हो जाता है। ज्वर दूर होने पर भोजन में स्वादुता आजाती है। अतः पुनः भोजन में रुचि हो कर यह वैराग्य समाप्त हो जाता है। तीव्र वैराग्य सत्संग का फल है। भोग के पश्चात् भी नीरसता मालूम होती है। भोगप्रवृत्ति तो नहीं रुकती पर असारता का ज्ञान भोग की अभिवृद्धि की तरफ नहीं ले जाता। तीव्रतर वैराग्य में संसार की नीरसता का भोगकाल में भी स्मरण बना रहने से भोग में आनन्द नहीं आता। उल्टा भोग में भाररूपता प्रतीत होती है। इसमें शारीरिक आवश्यकता को छोड़ स्वतः प्रवृत्ति नहीं होती। परतः प्रवृत्ति होने पर भी उत्साह नहीं रहता एवं शीघ्र छोड़ना चाहता है। तीव्रतम वैराग्य में संसार के सभी पदार्थों एवं सम्बन्धों को छोड़ देता है। जिस प्रकार गर्म लोहे को हाथ लगने पर हाथ हटाने में विचार नहीं किया जाता, हठात् छूट जाता है। तीव्रतर में संसार की असारता जानने पर भी कर्तव्यता आदि का विचार बना रहता है। अतः पंचवर्षीय योजना की तरह एक एक पदार्थ से हटने का विचार चलता रहता है। लगातार घाटा लगने पर अन्दर ही अन्दर चिन्ता चलती रहती है परन्तु समय धीरे धीरे कटता जाता है। अकस्मात् शेर ने पकड़लिया तब फिर चिन्ता नहीं चलती। उसी प्रकार तीव्रतर में चिन्ता चलती है, तीव्रतम में छलांग मारी जाती है। एक पुरुष के चार पत्नियाँ थीं। उसने एक एक वर्ष में एक को छोड़ने की योजना बनाई। प्रथम पत्नी को छोड़ दिया। उसकी ननद ने जब अपने पति से भाई के वैराग्य की प्रशंसा की तो वह हँस पड़ा। कहने लगा 'ऐसा भी क्या छोड़ना?' ननद ने ताना मारा 'तुमसे तो मैं एक भी नहीं छोड़ी जा सकती।' पति ने हंसकर कहा 'लो देखो' और कंधे पर तौलिया पड़ा ही निकल गया। सायं तक न आने पर भी वह हंसी समझती रही। पर वह तो तीव्रतम वैराग्य युक्त था। फिर न लौटा। तीव्रतम वैराग्य में ही श्रौत परमहंस संन्यास का अधिकार है। अन्यथा आश्रमरूप स्मार्त, कुटीचक, बहूदक, हंस या दण्डीसंन्यास ही ग्राह्य है। पुष्ट वैराग्य विवेक एवं आत्मचिन्तन से परिपक्व होता है। यह सिद्ध का वैराग्य है। यह स्वाभाविक है। इसी को 'उन्मनी' भी कहा जाता है। यह शिव में स्थित रहने वाले को अशिव में सहज उदासीनता का भाव है।

केवल दुःख से क्षणिक वैराग्य होता है। मथित मण्ड (whipped cream) की तरह यह अन्दर थोथा होता है। अतः अत्यन्त दुःखी में भी वैराग्य नहीं पाया जाता। भारत में जिसे प्रायः वैराग्य माना जाता है वह यही वैराग्याभास है। इसकी प्रशंसा ने एक नैराश्यवाद का वातावरण बना दिया है। लोग प्रार्थना भी दुःख की कर लेते हैं। पर दुःख आते ही घबरा जाते हैं। मनीष को पुत्रों ने घर से निकाल दिया। दरवाजे पर बैठा था। उधर से स्वामी धीरेन्द्र गिरि निकले। दुःख सुनकर बोले कि वैशाली के मठ में चल। शिव भक्ति कर। भोजन की व्यवस्था मैं कर दूंगा। मनीष कहने लगा 'बाबा! मैंने समझा था लड़कों को समझाओगे। या दैवी शक्ति से उनके हृदय को बदलोगे। निकाला तो क्या, धक्का मार दी दिया तो क्या, हैं तो मेरे ही बच्चे। मैं चला गया तो उनके गायों को चराकर कौन लायगा।' धीरेन्द्र गिरि हंस कर चल दिये। अभाव में वैराग्य नहीं होता।

अतः विचार के लिये प्रयत्न कर्तव्य है। दुःख सम्पार्ध्य नहीं है, आवश्यक भी नहीं। दुःख को परमेश्वर की कृपा मानना भूल है। प्रश्न होता है कि सुख में तो विवेक या विचार की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होगी। परन्तु विचारशील को सर्वत्र दुःख प्रतीत हो सकता है एवं अविचारी को महत्तम दुःख भी वैराग्य में प्रवृत्ति नहीं करा सकता। बुद्ध को वृद्ध या बीमार एवं मृत व्यक्ति को देखते ही वैराग्य हो गया एवं हम सब इनका अपने में या प्रियतम में अनुभव करके भी रागी ही बने रहते हैं। विचारवान को जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषों का सर्वत्र अनुदर्शन होता है। बाल्य में मललिप्तावस्था, युवा में विषय सर्पों से कटीन भरने वाले घाव, प्रौढ में सुत, धन, युवति के स्वादसौख्यों का चिन्तन, वृद्ध की कमजोरी किस विचारशील को वैराग्य न करायगी। परन्तु अविवेकी को अपने पुत्र के अपनी गोद में मलविसर्जन से भी प्रसन्नता ही होगी। इन्हें वैराग्य प्राप्ति असंभव है।

वास्तविक वैराग्य का स्वरूप आचार्य नीलकण्ठ दीक्षित ने बताया है 'भव्ये देहे, पटुषु करणेषु, आलये श्रीसमृद्धे, कौमारान्ते वयसि, कथमप्य-प्रवृत्ते च दुःखे।' सुन्दर दर्शनीय शरीर एवं अविकल और भोगसमर्थ इन्द्रियाँ, धन व ऐश्वर्य से भरापूरा घर वाले में किसी भी प्रकार के दुःख आये बिना युवावस्था के प्रवेश काल में जो शिव की रुचि के कारण स्वाभाविक भोग में अरुचि है वही सच्चा है। परन्तु जिसमें यह स्वाभाविक वैराग्य नहीं होता वह भी संसार स्वरूप के विचार, श्रवण या सत्संग से इसको पाने का प्रयास कर सकता है।

यद्यपि हमें अपनी बाल्यावस्था का स्वयं स्मरण नहीं रहता फिर

भी अन्य बालकों से अनुमान होता है कि सिवाय रोने के और कोई भी बल उस समय नहीं होता। मक्खी, मच्छर भी नहीं उड़ा सकते। मल मूत्र भी सोने के बिछौने में होता है एवं वैसी ही रात्रि बितानी पड़ती है। पारतंत्र्य की पराकाष्ठा है। न जाने किस आधार पर बालक को परमसुखी कहा जाता है।

जवानी में कामज्वर एवं धनज्वर सर्वदा व्याप्ते रहते हैं। पत्नी सुन्दर मिली तो ईर्ष्या से जलाती है। कहीं मेरे से विमुख न हो जाय। किसी ने उससे हंसकर बात की तो छाती पर सांप लोट जाता है। यदि कुरूप मिली तो देखते ही ठण्ढी हाय भरता है। योग्य एवं पतिव्रता हुई तो आसक्ति और मोह की वृद्धि से उसके सिर में दर्द होते ही जान निकलती है। यदि अयोग्य या कुलटा हुई तो दुःख प्रतिक्षण है। सुख की भ्रान्ति ही भ्रान्ति अविचारी को फंसाती रहती है। कहीं कर्कशा व क्रोधिनी तो घर ही नहीं पड़ोसी के सामने भी सिर झुकाये रहना पड़ता है। स्मृतियाँ तो 'त्यजेत्क्रोधमुखीं भार्याम्' का विधान ही कर गये हैं। इसी प्रकार पति के विषय में समझना चाहिये। भारत में बहुपत्नी प्रथा ने सौत के दुःखों का एक विशिष्ट नमूना ही पेश कर रखा है। कैकेयी की नयी जवानी में आसक्त दशरथ ने कौशल्या को जो दुःख दिये थे उसे रामवनवास की रात्रि में कौशल्या ने दशरथ को सुनाये थे। वाल्मीकि रामायण में इसका हृदयविदारक वर्णन है। पति के अर्थोपार्जन में असमर्थ होने से वधू को घरभर की जो गुलामी करनी पड़ती है वह तो दुःखपूर्ण है ही, कमाऊ पति के निरन्तर बाहिर रहने से जो व्यथा होती है उसे भावुक हृदय ही समझ सकता है। अतः पति या पत्नी में सुख की आभासता मात्र है। हाँ यदि शिव प्राप्त्यर्थ दोनों कर्तव्यपरायणता से जीवननिर्वाह करें तो आदर्श की संहृदयता से अवश्य सुख होगा।

पुत्र भी योग्य, आज्ञाकारी हुआ तो वियोग में दुःख। पढ़ा तो शरीर खराब। पहलवान तो मूर्ख। विद्वान् तो अर्थ की कमी। धनी तो बात भी नहीं करता। बदनाम हुआ तो मरणतुल्य दुःख। पुत्र तो पितृशत्रु ही है। मरकर भी कई पुत्र पिता को कलंकित करते हैं। प्रतिक्षण मातापिता को चिन्ता कराता है। पुत्रों का आपस में विरोध भी दारुण दुःख का कारण बन जाता है। नरक से पुत्र तारे या नहीं जीते ही नरक का अनुभव तो करा ही देता है। पुत्र की तरह पुत्री भी विवाह आदि की चिन्ता कराती है। कहीं ससुराल में धन है तो लोभ, कहीं संस्कृति है तो दारिद्र्य, कहीं आचारभ्रष्टता तो कहीं कड़े स्वभाव। गरज़ यह कि मातापिता को हमेशा समस्या बनी रहती है।

वृद्धावस्था तो दुःख का पर्व है। इन्द्रियाँ शिथिल। अपने बनाये बन्धनसे रेशम के कीडे की तरह स्वयं ही बंध जाता है। जवानी का मालिक, पुत्रों का चाकर बन समय बिताता है। फिर भी मोह की महिमा को धन्य है कि वैराग्य उदय नहीं होता। भाष्यकार शंकरभगवत्पाद कह उठते हैं `अंगं गलितं, पलितं मुण्डं, दशनविहीनं जातं तुण्डं, वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं, तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम्।' अंगों की खाल लटक गयी, सिर रुई के समान सफेद हो गया। हाथ कांप रहे हैं, पैर लंगड़ाके चलता है। आंखों में गड्ढे पडे हैं। गाल बैठ गये हैं। कान सुनते नहीं। कूबड निकलगया है। मुंह पोपला है। लकडी के टेकसे चलता है। फिर भी सांस फूल जाता है। फिर भी आशा के पोटले को लादे जा रहा है। हे मूरख! क्यों अपना शत्रु स्वयं बन रहा है। मृत्यु निकट है। अब तो स्थिरमन से ईश्वर का भजन कर। परन्तु ७५ वर्ष का अवसरप्राप्त (Retired) भी कहीं सचिव बनकर लडकों की आमदनी बढाने का यत्न करता रहता है।

आसक्त पुरुष को कहीं सुख नहीं है। पर सुख की कल्पना से सारा जीवन बिताता रहता है। अनासक्त को कभी दुःख नहीं। 'विवेकी सर्वथा मुक्तः'। दृढविवेकी में क्षणमात्र भी आसक्ति नहीं हो पाती। वह तो जीवन का ध्येय उमामहेश्वर को मानकर चलता रहता है। सुखस्वरूप के चिन्तनमात्र से दुःख नजदीक नहीं आ पाते। यह विश्व तो शिवमय है। आनन्दस्वरूप है। परन्तु मोह ने इसे अशिव और दुःखमय बना रखा है। इसीलिये वेद में कहा है - `उत्तिष्ठता प्र तरता सखायः अश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम्। अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान् त्स्योन्नान् उत्तरेम अभि वाजान्॥' (अथ.१२) हे मित्रों! उठ खडे हो एवं इस पत्थरों से भरी बहती नदी को पार कर जाओ (तैर जाओ या नाव से तर जाओ)। जो अशिव सम्बन्ध या पदार्थ हैं उन्हें यहीं छोड जाओ। शिव जो सुखरूप हैं उनकी तरफ हम तर जावें एवं उन्हीं भोगों से मुक्त हों जो शिव कृपा से प्राप्त होने के कारण कल्याणकारी हैं।

अतः सभी चीजों को शिव से सम्बन्धित करके ही ग्रहण करना योग्य है। यह सम्बन्ध चाहे मिलकियत का हो या अधिष्ठान का। अत एव वाजसनेयसंहितोपनिषद् में `ईशावास्यमिदं' के बाद ही `तेन त्यक्तेन भुंजीथ' त्याग का विधान किया है। सर्व को शिव से आच्छादित करने के बाद जो त्याग होगा वही वैराग्य है एवं वैराग्य ही हमारा पालन करके हमें आत्मज्ञान की दृढता तक ले जा सकेगा। जो ऐसा विचारशील नहीं है उसके लिये वैराग्य असंभव है। विचारशील भी यदि विषयप्रवृत्ति में आधिक्य से शिवरूपता को भुला देगा तो `विषयाभिमुखन्दृष्ट्वा योषा जारमिव प्रियम्' उनका सम्बन्ध उसे स्वरूप से अवश्य गिराने में सफल हो जायगा।

भगवान राम के दादा एवं दशरथ के पिता अज चक्रवर्ती होने पर भी सत्संगी, विचारशील एवं न्यायप्रिय थे। सर्वसद्गुण सम्पन्न होने पर भी पत्नी के प्रति वे अत्यन्त आसक्ति रखते थे। कुल गुरु वसिष्ठ ने अनेक बार समझाया कि 'विवाहो न विलासार्थं' आर्य विवाह भोग के लिये नहीं करता। विवाह एक संस्कार है जिसका उद्देश्य पितृऋण को चुकाना है। 'अयज्ञीयो वैष योऽपत्नीकः' (शतपथ) बिना पत्नी के यज्ञ करने की योग्यता नहीं होती। अतः सदाशिव के प्रीत्यर्थ ही विवाह करना है। परन्तु अज की कामासक्ति पूर्ववत् ही रही।

एक दिन अज अपनी पत्नी इन्दुमती के साथ सरयू में जल विहार करने गये हुये थे। अकस्मात् एक माला इन्दुमती के गले में गिरी और अज कुछ करे इसके पहले ही प्राणप्यारी मर कर गिर पड़ीं। सर्वत्र हाहाकार मच गया। अज के शोकपूर्ण विलाप से पत्थर भी पिघल जाते परन्तु यम के कानों में कोई प्रभाव न हुआ। अंत में अपना 'सता' बनने का निश्चय प्रकट किया। मंत्रीगणों के समझाने का भी असर न पड़ा। राग की प्रबलता में विवेक ही नहीं तो वैराग्य कहाँ? दशरथ उस समय अल्पवयवाले थे। वसिष्ठ उस समय दीर्घकालव्यापी अनुष्ठान में थे। लोगों ने खबर दी। स्वयं असमर्थ होने से शिष्य के हाथ उपदेश लिखकर भेजा कि शरीर और शरीरी का निकटतम व प्रियतम सम्बन्ध है। जब उनका विरह भी अटल है तो पत्नी वियोग में क्या शोक? सभी सम्बन्ध देहनिमित्तक हैं। देह के सम्बन्ध के नष्ट होते ही इन्दुमती तेरी क्या रह जायगी? न जाने कितनी बार कितने प्रकार के सम्बन्ध बने बिगड़े हैं। देह से भिन्न पदार्थों में इतनी व्यग्रता कि देह से ही सम्बन्ध तोड़ना चाहता है जो देह उन सभी सम्बन्धों का आधार है। अतः अपना निश्चय छोड़ दे। लौकिक दृष्टि से ब्याज सहित मूलधन की प्राप्ति लाभ मानी जाती है। इसी प्रकार जीवन के भोगों की परिसमाप्ति पर मृत्यु निश्चित है। परन्तु भोग प्रक्रिया में पुण्य कमाकर स्व और पर का कल्याण जिसने साध कर ऐश्वर्य की अभिवृद्धि की है उसका जीवन लाभरूप होने से तेरे जैसे पुण्यशील को शोक करना उचित नहीं। जब तक संभव हो जीकर पुण्य कमाने का उपयोग कर। मरना निष्फल है। किंच हवा चलने पर वृक्ष
हिलते हैं एवं टूट भी जाते हैं। पर्वत अडिग बने रहते हैं। यदि वे भी हिलें और टूटें तो उन्हें अचल या भूधर कौन कहेगा। तू मेरा शिष्य है। यदि गोपालों की तरह तू भी शोकग्रस्त हो विवेक खो बैठेगा तो फिर मेरा गुरु बनना व्यर्थ ही होगा। जरा मेरी बदनामी का भी तो विचार कर। तेरे जैसे प्रतापी राजा और सामान्य जन के अन्तर का विचार कर। अतः शोक छोड़ दे।

पत्र पढ़ते ही ज्ञानचक्षु खुल गये। अपनी नास्तविकता का बोध हो गया। विचार जागृत होते ही सन्मार्ग का प्रधान निर्देश सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार के गुरुवाक्य से ही सामान्य साधक वैराग्य मार्ग का पथिक

ॐ

शम

भारत पर जब आक्रमण हुआ तो विदेशी शस्त्र मांगे गये। उन्होंने इस शर्त पर देना स्वीकार किया कि भारतीयों को चलाना आता हो। शस्त्रास्त्र अनधिकारी को देना उसके स्वयं के नाश का कारण बन जाता है। इसी प्रकार साधनचतुष्टय रूपी अधिकार से हीन व्यक्ति ब्रह्मज्ञान का पात्र नहीं। 'नाप्रशान्ताय दातव्यं न निरस्तैषणाय च' कहकर भगवान सुरेश्वर अधिकार प्रतिपादन करते हैं। स्वयं भगवान् वेद भी 'शान्तो दान्त उपरतः तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मनि एव आत्मानं पश्यति' (बृ॰ ४.४.२३) शमादिषट्क का साक्षात् विधान आत्मजिज्ञासु के लिये करता है। स्मार्त उपनिषदों में तो 'अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्। महानिरये (शिष्य को) कालेषु स तेन विनियोजितः।' (महोप॰ ५.१०५) अज्ञानी और अर्धज्ञानी को ब्रह्मविद्या का उपदेश नरक प्राप्ति का साधन बताया गया है। यहां अज्ञ से अविवेकी एवं अर्धज्ञानी से शमादिरहित ही गृहीतव्य हैं। अन्यथा अवशिष्ट ज्ञानी को तो उपदेश व्यर्थ है। आज इसीलिये छोटे राष्ट्रों को अणुबम नहीं दिया जा रहा है। अतः विवेक, वैराग्य के बाद शमादि कर्तव्य हैं।

वस्तुतः इन सभी साधनों में हेतुहेतुमद्भाव है। विवेक का फल वैराग्य। वैराग्य से शमादि षट्क। वैराग्यवान् का मन स्वभावतः शान्त रहेगा। शम अन्य पांच की अपेक्षा प्रधान एवं अंगी है। दमादिपंच उसीके अंग हैं। जिस प्रकार देह अंगी है एवं हस्तपादादि अंग हैं। हस्तपादादि सभी देह ही हैं परन्तु अवयव से अवयवी में वैशिष्ट्य स्वीकारा जाता है। अंगी की सिद्धि में अंग सिद्धि कारण है परन्तु अंगी सिद्ध हो जाय तो अंग स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। अतः अंगी के साधन में विशेष प्रयास कर्तव्य है।

शम का सम्बन्ध साक्षात् मन से है। मन को एकाग्र करके जिसने साध नहीं लिया वह किसी भी मार्ग का पथिक नहीं बन सकता। भगवान गौडपाद स्पष्ट कहते हैं कि वेदसिद्धान्त को छोड सर्वत्र 'मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम्। दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च॥' (मा॰ का॰ ३.४०) मन के निग्रह अर्थात् शम के अधीन ही अभय, दुःखनाश, ज्ञान एवं मोक्ष होता है। ठीक भी है क्योंकि बन्धमोक्षादिव्यवस्था दुःखानुभूति को लेकर ही प्रवृत्त है। दुःखानुभव मननिमित्तक है। अतः मन की प्रधानता स्फुट है। योगी चित्तवृत्तिनिरोध या सौगत विज्ञानसंततिक्षय से शम का ही प्रतिपादन करता है। यद्यपि वेदान्ती मनःसापेक्ष होने से शम को निरपेक्ष मोक्ष से अत्यन्त भिन्न मानता है तथापि साधनकोटि में इसका सन्निवेश करता ही है। ज्ञानोत्तर भी स्वभावसिद्ध शम का प्रतिपादन भी गौडपादभगवान करते हैं 'एवं विद्वान् शमं व्रजेत्'। भगवान शंकर इस पर लिखते हैं 'शममुपशान्तिं स्वाभाविकीं ब्रह्मस्वरूपां व्रजेद् ब्रह्मरूपेण अवतिष्ठेत इत्यर्थः।' शम अर्थात् स्वभावसिद्ध ब्रह्म से अभिन्न जो शान्ति, उसे पाना अर्थात् ब्रह्मस्वरूप में सर्वदा रहना। ब्रह्मनिष्ठ में यह स्वभाव है एवं साधक को यह आयासपूर्वक कर्तव्य है। शम की प्रधानता से ही भगवान बादरायण 'शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदंगतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्' (ब्र॰ सू॰ ३.४.२७) से साधक मात्र को यह कर्तव्य बतलाते हैं। शम के बिना आत्मज्ञान संभव ही नहीं।

शम का लक्षण विवेक चूडामणि में 'स्वलक्ष्ये नियतावस्था मनसः शम उच्यते'(२३) मनका अपने किसी भी लक्ष्य में नियमपूर्वक स्थित होने की अवस्था किया गया है। प्रेमी का मन प्रियतमा या लोभी का मन अर्थ में जैसे स्थित रहता है वह भी शम की ही दशा है। अतः संसारी कार्यों में भी सर्वतोमुखी सफलता प्राप्त करने के लिये शम आवश्यक है। सगुण उपासना में भी इसकी आवश्यकता अतिस्फुट है। वैज्ञानिक व दार्शनिक और कवियों में शम की पराकाष्ठा के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। यहाँ भी शम का कारण उनकी अन्य पदार्थों में वितृष्णा ही है। मन को अपने लक्ष्य से हटाने वाली पदार्थतृष्णा ही है। यह कम होगी तो इष्ट में मन स्वभावतः रम जायगा एवं स्थिर हो जायगा। परमशिव में इष्टता का ज्ञान एवं अन्य सभी वस्तुओं से वितृष्णा जितनी अभिवृद्ध होगी शम उतना ही सरल होगा। मन में वासनाओं की बेशुमार भरमार होने पर तो 'उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैक बिन्दुना' शम घास की नोक से समुद्र सुखाने के समान दुष्कर है। अतः यज्ञ, स्वाध्याय, दान और तप का अभ्यास करके वासनातानव प्रथम कर्तव्य है।

साधना की दृष्टि से सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह में `एकवृत्त्यैव' का निवेश है। वैसे तो स्व-लक्ष्य पदमें भी स्व से आत्मा ही ग्राह्य है। परन्तु इस निवेश से स्पष्टता आ जाती है। मन आत्मा को विषय करे एवं अनात्मा के निक्षेप से रहित हो। देह अंगी है अतः देहरक्षा के लिये अंगनाश कर दिया जाता है। इसी प्रकार इस वृत्ति को एकाग्र रखने में यदि अन्य तितिक्षा आदि बाधक बनें या संभव न हों तो भी वृत्ति के एकतानता का अभ्यास तो अवश्य करे ही। वृत्ति अर्थात् मन का किसी आकार को ग्रहण करना। मन के किसी भी आकार को ग्रहण करने पर उस वृत्ति के प्रकाशक आत्मा को ज्ञान होता है। वस्तुतः हमारा सारा ज्ञान मानसवृत्तियों का ही ज्ञान है। इस बात को बौद्ध भी स्वीकारते हैं। परन्तु मन के अतिरिक्त पदार्थ हैं ही नहीं ऐसा उनका कथन दुःसाहसमात्र है। घटवृत्ति अर्थात् मन का घटाकार बन जाना। आत्मवृत्ति अर्थात् आत्मा के आकार का मन का बन जाना। एवं उसी लक्ष्य आत्मा के आकार का बना रहना। मन की वृत्ति ही आवरण को भंग करती है। वेदान्तशास्त्र में आत्मा की सर्वव्यापकत्व सर्वज्ञत्व आवृत है। परन्तु मन जिसका आवरण भंग करेगा उसका ज्ञान हो जायगा। अतः ज्ञान का साक्षात् साधन बने मन का नाम वृत्ति है। यद्यपि मन स्वस्थिति काल में किसी न किसी वृत्ति को बनाये ही रहेगा पर प्रतिक्षण वृत्ति बदलती रहेंगी एवं लक्ष्याकार नहीं स्थित होने से शम नहीं हो पाता। यही कठिनाई है। कबीर जैसे सन्त ने अपना अनुभव लिखा है 'बैठे थे हरि भजन को ओटन लगे कपास'। दिन भर के संस्कार ही भजन के समय आड आते हैं। कबीर थे जुलाहे। अतः उन्हें दिन भर कपास ओटना पडता था। भजन के समय भी वही याद आता था। सभी साधकों की यही शिकायत रहती है। जैसा कार्य दिन भर किया जायगा वैसा ही संस्कार दृढ होगा एवं ठाले होने पर मन वही चिन्तन करेगा। जहाँ हम लगाना चाहेंगे वहाँ न लगेगा। यद्यपि काम के विषय का चिन्तन करने से वृत्ति में एकरूपता आ जाती है परन्तु वहाँ भी नियतावस्था प्राप्त नहीं होती क्योंकि काम्य विषय अनेक हैं एवं वहाँ अतितृप्ति स्वाभाविक है। सदाशिव न अनेक हैं एवं न

उनसे अतितृप्त हुआ जा सकता है। उमामहेश्वर परमरमणीय हैं। जब उनसे अतिनिम्नकोटि की माया के कार्यों में भी प्रतिक्षण नवीनता है, जब दो सूर्योदय भी एक से नहीं, तो उनमें तो 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' सर्वतोभावेन चरितार्थ होना ही है। अतः वहाँ नियतस्थिति स्वभाव से हो जाती है।

जब उमामहेश्वर में ही शम हो सकता है तो उनके परमसाम्यावस्था में तो आयास से भी रहित शम की संभावना नितान्त सिद्ध है। जहाँ लगा कि स्थिर हुआ। इसीलिये भगवान गौडपाद 'सकृद्विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथंचन' (मा॰का॰ ३·३८) परमशिव को आविर्भाव-तिरोभाव से रहित एकसाथ ही प्रकाशमान सर्वज्ञ बताकर उसे समाधान आदि से भी स्वतंत्र बताते हैं। आचार्य शंकरभगवत्पाद 'नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वाद्ब्रह्मणः नकथंचिदपि कर्तव्यसंभवोऽविद्यानाशो यथान्येषां समाधानाद्युपचार इत्यर्थः।' कहकर इसी भाव को पुष्ट करते हैं। वेदज्ञों में इसे ही उत्तम शम कहा है कि परशिवाकारवृत्ति बनी रहे। यह तभी संभव है जब भेदभावना से रहित होकर अहं एवं ब्रह्म को एकाग्र कर दिया जाय। वृत्ति भेदबुद्धि से लक्ष्याकार होने के साथ अहंकार भी कि बनी रहेगी। सर्ववेदान्तसिद्धांतसारसंग्रह कहता है 'स्वविकारं परित्यज्य वस्तुमात्रतया स्थितिः। मनसः सोत्तमा शान्तिः ब्रह्मनिर्वाणलक्षणा॥'(९७) मन जब अपने विकारभाव को छोड़कर वस्तुमात्र अर्थात अपने प्रकृतभाव या कारणभाव में स्थित हो जाता है तभी ब्रह्मनिर्वाणरूपी उत्तम शान्ति प्राप्त होती है। प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण एवं प्रमिति सभी समानरूपेण कल्पित हैं, अखण्ड अद्वैत में अध्यस्त हैं। अतः सारे विकारों में यह सभी आगया। सांख्य एवं योगी भी प्रमाता या जीवभाव को नहीं छोड़ पाते। वैष्णव आचार्य तो समग्र त्रिपुटी भेद अर्थात ध्याता, ध्येय और ध्यान को उपादेय मानते हैं। ध्याता और ध्येय की एकता उनके मतवाद में नास्तिकता ही है। वैष्णवमत इस विषय में मुसलमान, ईसाई या यहूदी धर्म से भिन्न नहीं। वास्तविकता तो यह है कि इस उत्तम शम का प्रतिपादन वेदसिद्धान्त को छोड़ अन्यत्र असंभव है। वेदविदों का कथन है कि 'कर्मशास्त्रे वु नो ज्ञानं, तर्के नैवास्ति निश्चयः। सांख्ययोगौ भिन्नौ शाब्दिकाः शब्दतत्पराः। अन्ये पाखण्डिनः सर्वे ज्ञानवार्तासुदुर्लभाः। एक वेदान्तविज्ञानं स्वानुभूत्या विराजते॥'(सदाचारानुसंधानम्) कर्मप्रतिपादन करने वालों में तो कर्म को समूल उखाड़ने वाले ज्ञान का कथन सर्वथा संभव नहीं है। न्याय एवं युक्तिवादियों में आपस में ही एकमत नहीं हो पाता एवं साधक सर्वथा सन्देह में ही पड़ा रहता है। सांख्य व योग मतवाले द्वैत से आक्रान्त हैं एवं वैयाकरण रूप आदि साधा करते हैं। वैष्णव, बौद्ध, जैन आदि सारे पाषण्डियों में तो ज्ञान की वार्ता अत्यन्त असंभावित है। केवलमात्र एक वेद का सिद्धान्त ही अनुभूति के बल से विज्ञान होकर विराज रहा है। वेद का वैशिष्ट्य जीव व ब्रह्म की एकता प्रतिपादन करना ही है। इनकी एकता होने पर ही उत्तमशम संभव होता है एवं निरन्तर अनायास से बना रहता है।

परन्तु भिन्न विकारों को प्राप्त होने के अभ्यास वाले मन को विकाररहित बनाना गोलगप्पे खाना नहीं है। यह सत्य है कि 'चितिरेव चित्तं' चित् स्वयं ही चित्त है परन्तु अनादिकाल से विकृत होने के कारण विकार ही इसकी प्रकृति बन गई है। इसीलिये वेदान्तसम्प्रदायाचार्य महर्षि वसिष्ठ कहते हैं 'चित्तं चिच्च विजानीयात्' चित्त को चित् ही समझो; पर कब! 'तकाररहितं यदा' जब तकार हट जावे। 'तकारो विषयाध्यासः' तकार अर्थात् विषय भ्रान्ति। विषयविकाराकार होने से ही चित् का नाम चित्त है। वस्तुतः मन तो स्वयं जड है अतः वृत्ति भी जड है। वृत्ति के आकार में प्रतिफलित चैतन्य ही ज्ञान है पर वृत्ति-आकार विशिष्ट होने से अध्यस्त ज्ञान कहा जाता है। वृत्तिरहित ज्ञान ही शुद्ध ज्ञान है। भगवान गौडपाद 'चित्तस्पन्दितमेवेदं ग्राह्यग्राहकवद्द्वयम्। चित्तं निर्विषयं नित्यं असंगं तेन कीर्तितम्॥' चित्त के स्पन्द से ही ज्ञेय एवं ज्ञाता दोनों की प्रतीति का स्पष्ट प्रतिपादन करके निषयरहित होते ही उसे नित्य असंग पुरुष से अभिन्न बताते हैं। परन्तु विकारों को छोड़ने पर सहसा सन्न या शून्यभाव को प्राप्त हो जाता है। भाव-विषय न होने पर अभाव को पकड बैठता है। यह अवस्था भी अनिष्ट है। भाष्यकार भगवान शंकर 'यथा कामोनर्थहेतुस्तथा लयोपि' भाव की तरह ही अभाव को भी अनर्थ का कारण बताते हैं। यह एक प्रकार की सुषुप्ति ही है क्योंकि भगवान गौडपाद 'निद्रा तत्त्वमजानतः' परमशिव के अज्ञान को ही सुषुप्ति कहते हैं। किंच 'न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः' (मा. का. १.१४) तुरीय में विषय ज्ञान एवं अज्ञान दोनों का स्पष्ट निषेध है। अनेक सामान्य साधक इसी अभावावस्था में लटक जाते हैं। सुषुप्ति के जैसा सुख इसमें रहता है उसी को आनन्द मान कर कृतकृत्यता समझ लेते हैं। अतः अभावप्रत्यय का भी निरोध आवश्यक है। अभाव को हटाने के लिये पुनः भाव को लाना पड़ेगा। इसी अभ्यास से अन्त में 'यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः। अनिंगनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा' (मा. का. ३.४६) निवातप्रदीप की तरह कल्पित वृत्तियों से रहित जो चित्त वह ब्रह्मस्वरूप वाला बन जाता है।

उत्तम शम के लक्षण में चित्त को वस्तुभाव में स्थित करने का संकेत है। यहाँ वस्तु अर्थात् मन का वास्तविक स्वरूप अर्थात् पूर्ण सदाशिव। अतः सर्वदा एक सा रहने वाला चित्स्वरूप ही विवक्षित है। इसी विद्या के अन्त में स्पष्ट ही वेद 'आत्मतो मनः' कहकर यह बतायगा। ध्यानकाल में इसीलिये आचार्य 'भावदृढ्या हि भावत्वं शून्यदृढ्या हि शून्यता। पूर्णदृढ्या हि पूर्णत्वं तस्मात्पूर्णत्वमभ्यसेत्॥' (अपरोक्षानुभूति १२९) पूर्णवृत्ति का ही विधान करते हैं। बौद्ध मत में विज्ञानसन्तति का अभाव ही मोक्ष है अतः निर्वाण अर्थात् दुःखरहितता वहाँ भी है परन्तु ब्रह्म अर्थात् आनन्दरूपता नहीं है। ब्रह्मनिर्वाण वेदान्त की ही विशेषता है। द्वैतवादी वैष्णव आदि तो भावदृढ्या के समालम्बन के कारण मोक्षशास्त्र से अतिदूर हैं। जबतक अहम्भाव है तबतक सुख सापेक्ष ही है। तथाकथित वेदान्ती भी इसी अहं-तत्त्व में ही अटकते देखे जाते हैं। अतः पूर्णत्व प्राप्ति के लिये ही अभ्यास कर्तव्य है। अहंप्रत्यय ग्राहक है, पर है कल्पित उतना ही जितना ग्राह्यविषय। दोनों के लय हो जाने पर ब्रह्म

ही बच रह जाता है, जैसे लहर शून्य समुद्र। सर्वत्र व्यापकभाव ही बच जाता है। आत्मा फिर कभी चित्तरूप में स्पन्द नहीं करता। पत्थर या जड अवस्था में और इस अवस्था में उतना ही भेद है जितना किसी बेवकूफ की बडबडाहट से अज्ञ के विस्फारित नयन एवं विज्ञ की जुगुप्सामयी दृष्टि में। अंत में भूमा, सुख नाम से इसी को कहा जायगा।

पूर्वोक्त शम वस्तुतः ज्ञानी का है। साधक की इसमें गति असंभव है। साधक के निरूपण में इसका निर्देश केवल लक्ष्य के स्पष्ट निर्देश करने के लिये है। साथ ही साथ मनःसंयम काल में यदि उत्तर भूमि हठात् उपलब्ध हो जाय तो साधक घबरावे नहीं इस लिये भी यहाँ निर्देश कर दिया गया है। इस शम के लिये ही श्रुति कहती है 'शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति.....शमे सर्वं प्रतिष्ठितं' (तै.आ.१०.७९) शम के द्वारा ही मन को उपशान्त करने वाले शिवनिष्ठा में सतत भ्रमण करते हैं। शमरूप ब्रह्म में ही सभी अधिष्ठित है।

साधक के लिये 'प्रत्यक् प्रत्ययसन्तानप्रवाहकरणं धियः। यदेषा मध्यमा शान्तिः शुद्धसत्त्वैकलक्षणा'॥ (सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह ९८) अन्तःकरण की शुद्ध-अवस्था प्राप्त हो जाने पर मध्यमशान्ति उपादेय है। इसमें प्रत्यगात्मा की तरफ ही निश्चय पूर्वक मनोवृत्ति का प्रवाह किया जाता है। इसी को अहङ्ग्रहोपासना भी कहा जाता है। सारे बाह्यविषयों से मन को प्रत्यावर्तित करने पर भी 'मैं' का भान सूक्ष्म रूप से रहता है। विषय के अभाव में यह भान नहीं-जैसा होता है। अथर्ववेद कहता है 'बालादेक-मणीयस्कं उतैकं नेव दृश्यते। ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया'॥ (१०.४) बाल से भी छोटा (सूक्ष्म) होने के कारण आत्मा नहीं-सा प्रतीत होता है। वह आत्मा जिस उमामहेश्वर का आलिंगन करके रहता है वह देवता ही मुझे प्रिय है। जिस प्रकार आलिंगन की गाढता में भेद सूक्ष्मरूप से बना रहने पर भी नहीं-सा होजाता है उसी प्रकार अहंग्रहोपासना में उमामहेश्वर से भेद नहीं-सा हो जाता है। इसी उपासना को आगे स्वयं भगवान् सनत्कुमार ही 'अहमेव अधस्तात्, अहम् उपरिष्टाद्, अहं पश्चाद्, अहं पुरस्ताद्, अहं दक्षिणतः, अहं उत्तरतः, अहमेवेदं सर्वम्।' मैं ही ऊपर, नीचे, पीछे, आगे, दांये, बांये हूं। सब कुछ प्रतीयमान ज्ञेयरूप से मैं ही अवस्थित हूं कहकर प्रतिपादन करेंगे। प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं आगमों में इसका काफी विस्तार से प्रतिपादन है। वस्तुतः संस्कृत में 'मैं' का अर्थ है 'अहम्'। अ सारे वर्णों में प्रथम एवं ह अन्तिम है। अतः अ से ह तक अर्थात् सारे वर्णों को संक्षेप में अहम् पद कह देता है। वाच्य और वाचक का वेदान्तों में भेद नहीं माना गया है। अतः सर्ववर्ण कथन से सर्वजगत् का कथन भी हो ही जाता है। इस अहम् के ध्यान में जो भी बाधक विचार आवें उनसे अहम् का अभेद करना पडता है। अथवा उन विकारों को विकारज्ञान से अभिन्न समझकर एवं ज्ञान को स्वस्वरूप साक्षी से अभिन्न समझ कर आत्मचिन्तन किया जाता है। यदि यह भी संभव न हो तो 'असंगोहं नित्योहं शुद्धोहं मुक्तोहं दृङ्मात्रोहं' आदि का अर्थानुसन्धानपूर्वक धारा प्रवाह चिन्तन भी किया जा सकता है। मध्य में अतिरिक्त वृत्ति न आ जाय इसका ध्यान रखे। इनमें से किसी भी साधन से चित्त का उपशम होना चाहिये। अखण्ड धारा प्रवाह वृत्ति जितनी अधिक होगी उतना ही सुख का अनुभव होगा। इस प्रकार के वृत्ति

प्रवाह को ब्रह्मज्ञान न समझ लेना चाहिये। ज्ञान तो प्रमाणजन्य होता है। यह तो वृत्तिविक्षेपों को न्यूनतर करने का साधन है जिससे वेदान्तजन्य ज्ञान धारण करने की सामर्थ्य आती है। द्वैतमूलक प्रतीकोपासनादि से तुच्छ स्वर्गादि फल मिलते हैं। द्वैतभी की पुष्टि से अद्वैतज्ञान धारण की सामर्थ्य नहीं आ पाती। अहंग्रहोपासना से ही यह पुष्टि आती है एवं यदि ज्ञान न भी हो तो परमशिवलोक में जाकर शिवोपदेश से मोक्ष अवश्य हो जाता है। यदि भावना परिपक्व हो गई तो विदेहमुक्ति भी सहज हो जाती है। अतएव त्रिकदर्शन एवं विद्यारण्यस्वामी और सूतसंहिता में इस उपासना को प्रधानता दी गई है। श्रवण के साधन कठिन हैं। यह उपासना सरल है। सांख्य, योग एवं वैष्णव द्वैतमूलक साधनाओं की अपेक्षा यह वैदिक ध्यान उत्युत्कृष्ट है। वीरभाव में तो इसका ही पूर्ण विकास शाक्तागमों में है।

परन्तु मध्यमशम में भी शुद्धान्तःकरण की अपेक्षा है। जिसके चित्त में अभी शुद्धि नहीं आई उसके लिये यह भी संभव नहीं। अतः 'विषयव्यापृतिं त्यक्त्वा श्रवणैकमनःस्थितिः। मनसश्चेतरा शान्तिर्मिश्रसत्त्वैक लक्षणाः॥' (सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहे ९९) विषयों के व्यापार को छोड़ वेद सिद्धान्त के श्रवण में ही मन को लगाना भी शम का सामान्य प्रकार है जो शुद्धि और अशुद्धि से मिले हुए मनवालों के लिये है। मल दोष की कमी से शुद्धि और विक्षेप दोष की अधिकता से अशुद्धि ऐसे अन्तःकरण में मिली रहती है। विषयव्यापारों की अधिकता से श्रवण में भी मन अस्थिर ही रहेगा। इसी भूमाविद्या के अन्त में भगवान सनत्कुमार 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' कहेंगे। वेदरहस्यवेत्ता शंकरभगवत्पाद 'शब्दादिविषयविज्ञानं भोक्तुः भोगाय आहियते तस्य विषयोपलब्धिलक्षणस्य विज्ञानस्य शुद्धिराहारशुद्धौ रागद्वेषमोहदोषै-रसंस्पृष्टं विषयविज्ञानम्।' शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का अनुभव भोक्ता जीव के भोग के लिये जो उपस्थित किया जाता है उस विषयप्राप्ति रूप अनुभव को आहार समझना चाहिये एवं उसकी शुद्धि का तात्पर्य है राग-द्वेष एवं मोह से अस्पृष्ट विषयानुभव, ऐसा प्रतिपादन करते हैं। साधक अवस्था में रागादि का नियन्त्रण कठिन है अतः विषयानुभव से यथासंभव दूर रहे। वैसे हम अलग से बताया ही जायगा। अत्यन्त आसक्त का मन श्रवण में लगेगा ही नहीं। कम से कम श्रवणकाल में मन की एकाग्रता यहाँ भी आवश्यक है। श्रवणकाल के बाद तो मिश्रसत्त्ववाले की चंचलता तो होगी ही। परन्तु जो सर्वथा मलदोष से आक्रान्त हैं उन्हें या तो नींद आयगी या काम्यपदार्थों का चिन्तन करेंगे। एक कपड़े का व्यापारी नियमतः कथा श्रवण करता था। एक दिन कथा के

मध्य में ही अपनी धोती का छोर फाड़ दिया। बड़ा शर्मिन्दा हुआ। वह नींद के झोंके में दूकान पहुँच ग्राहक को कपड़ा बेचने लगा था। यह श्रवण नहीं। इससे लाभ नहीं। मलदोष की अधिकता में तो शास्त्रीय कर्म में ही लगे रहना चाहिये। अग्निपरिचर्या, शिवपूजा, गुरुसेवा आदि में लगा रहना मलयुक्त अन्तःकरण के शुद्धि के साधन हैं। इनसे शुद्ध होकर ही श्रवण का अधिकार आता है।

श्रवण से यहाँ वेद के सिद्धान्त श्रवण से तात्पर्य है। पुराण या अन्य कथाओं का श्रवण अथवा नामकीर्तन आदि का श्रवण विवक्षित नहीं है। यह तो निम्नकोटि के साधकों को लाभप्रद होते हैं। वेदान्तशास्त्र को समझने की योग्यता भी शिवकृपा का फल है। स्वयं वेद 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः' सुनने को भी बहुतों को नहीं मिलता कहकर श्रवण को शिवकृपा से प्राप्त बतलाता है। सामान्य कहानियाँ तो सर्वत्र उपलब्ध हैं। वेद का रहस्य जाननेवाला परमहंस ही वेदान्त का प्रतिपादन कर सकता है। आज तो संन्यासी भी लौकिक मनोरंजन से जनता को श्रवण की भ्रान्ति कराते हुये देखे जाते हैं। संन्यासी भी यदि मल दोष से रहित नहीं होते तो उन्हें भी वेदान्त रुचिकर नहीं होता। अतः आसक्ति यदि अभिवृद्ध हो तो उन्हें भी उमा-महेश्वर की भक्ति करके प्रथम मल निवृत्त करना चाहिये।

मन पारे की तरह है। एक बार छितर गया तो एकत्रित करना कठिन है। अतः श्रवण के प्रारंभ में ही मन को बटोरकर रखे। संभव हो तो प्रातःकाल का समय श्रवण के लिये रखे। श्रवण दूसरे से करना जरूरी नहीं। भगवान शंकर को प्रत्यक्ष समझकर वेदान्त,सूत्र या भाष्य को अर्थावगतिपूर्वक पढ़े एवं यह समझे कि स्वयं वे ही अपने मुखारविन्द से सुना रहे हैं। यह भी श्रवण का उत्तम साधन है। संस्कृत भाषा का ज्ञान हो तो उत्तम है अन्यथा स्वकीय ज्ञात भाषा में अनुवाद को भी सामने रखे। परन्तु मूल पाठ को शिववाणी समझकर पढ़े। पश्चात् अनुवाद को पढ़कर अर्थ को बैठावे। पुनः मूलवाक्य को उसी अर्थ का चिन्तन करते हुये पढ़े जबतक उस वाक्य का अर्थ स्थिर न हो जाय। शीघ्रता न करे। यह भी शम का अभ्यास है। वेद, सूत्र, भाष्य आदि को कोई सामान्य ग्रन्थ नहीं मानना चाहिये। वे स्वयं ही शंकर की प्रत्यक्षमूर्ति हैं। जैसे गुरु में मनुष्यबुद्धि, मूर्ति में पत्थरबुद्धि रखना पाप है, वैसे ही वेद में ग्रन्थबुद्धि रखना भी पाप है। उन्हें सर्वदा उत्तम पवित्र स्थान में रखना चाहिये। पैरों में कभी न लगे। ऐसा साधक भी अवश्य उमामहेश्वर की कृपा को प्राप्त कर लेगा।

तीनों ही प्रकार के शमों में स्थिति भेद होने पर भी 'स्वलक्ष्ये नियतावस्था' का लक्षण एक जैसा ही अनुगत है। कालभेद से योगशास्त्र में शम का त्रिविध भेद प्रतिपादित है। प्रथम पंक्ति (classification) विषय के आधार से है एवं द्वितीय सन्तति के आधार से। यह बात दूसरी है कि जितनी बहिर्मुखता होगी उतनी चंचलता शीघ्र होगी एवं सन्तति काल भी अल्प होगा एवं जितनी अन्तर्मुखता उतना ही चाञ्चल्य न्यूनतर होने से सन्तति काल अनायास ही दीर्घ होगा। २ घण्टे अर्थात् ५ घटिका तक एक विषय में या मूलाधारादि चक्रों में चित्त का बिना अन्तराय के टिक जाना धारणा मानी गई है। द्वादश धारणा का ध्यान एवं द्वादश ध्यान की समाधि होती है। समाधि में त्रिपुटी का अभाव स्वतः हो जाता है ऐसा अनुभवी शिवयोगीयों का कथन है। पश्चिमोत्तान आदि से इसमें बडी मदद मिलती है। पर यह विषय यहाँ विस्तार से नहीं बताया जा सकता। किसी भी प्रकार से उमामहेश्वर रूपी ध्येय मात्र में चित्त को रमण कराना है। इसके लिये गुरु प्रदर्शित मार्ग का अवलम्बन करना ही श्रेष्ठ है। कई लोगों का महादेव के प्रेम में स्वतः ही शम हो जाता है। इसीलिये वेदान्त मूर्ति शंकरभगवत्पाद कहते हैं कि 'भवद्भावना पर्यङ्के विनिवेश्य भक्ति जननी भक्तार्भकं रक्षति' (शिव. ६२) शिवभावना रूपी पलंग में लिटाकर भक्तिमाता भक्त बालक का रक्षण करती है। शिवभक्ति उत्पन्न हुई तो आसानी से सारा काम हो जाता है। परन्तु 'बहूनां जन्मनामन्ते शिवे भक्तिः प्रजायते' बहुत जन्मों तक साधना करने के बाद अन्तिम जन्म में ही महेशभक्ति संभव है। उमा ही ब्रह्मविद्या है। यदि शिवभक्ति आई तो फिर आगे जन्म नहीं होगा यह निश्चय है। उमामहेश्वर ही ब्रह्मविद्या एवं उससे प्रतिपाद्य शुद्धचिन्मात्र अनन्तानन्द हैं। अतः ज्ञानस्वरूप ही प्राप्य है। शनैः शनैः मनस्थिर करने का अभ्यास कर्तव्य है। ज्ञान के बिना मुक्ति असंभव है यह वेदसिद्धान्त है एवं ज्ञान के साधनों में शम अत्यन्त अन्तरंग साधन है।

शम के अभ्यास में शीघ्रता काम नहीं देती। आरंभ में चित्त एक क्षण शिव में, फिर कई क्षण जगत् में तब कहीं फिर एक क्षण शिव में जायगा। परन्तु धैर्य के साथ लगे रहने वाले साधक का चित्त धीरे धीरे ३ घण्टे का अभ्यासी हो जायगा। न्यूनतम ३ घण्टे लगातार शिवचिन्तन का अभ्यासी सारे दिन आन्तरिक विच्छिन्न प्रवाह चलाता रह सकेगा। जिस प्रकार घण्टा निनादित होने पर गूंज बनी रहती है वैसी ही यहाँ भी चित्त में अनुवृत्ति बनी रहती है। जितनी देर एवं जितनी जोर से घण्टा बजेगा उतनी ही गूंज अधिक रहेगी। प्रथम — — — · — — — · · · , फिर · · · — — · · — · — · · · · — — · · · · फिर · · · · · · · · · · — एवं अन्त में · · · · · · · · · · । यहाँ बिन्दु से शिववृत्ति एवं लकीर से मायावृत्ति समझना चाहिये। वस्तुतः धारणा में ध्याता, ध्येय एवं ध्यान तीनों स्फुट हैं; ध्यान में केवल ध्याता व ध्येय स्फुट हैं; एवं समाधि में ध्येय ही रहता है ऐसा भी कई मनीषियों का मत है। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि इन योगसम्बन्धी प्रक्रियाओं का साधारण साधक को क्या प्रयोजन। प्रत्येक साधक को इसी साधना से गुजरना पडेगा। मोक्ष का एक ही मार्ग है। कोई कितना ही सस्ता लटका बतावे, निश्चय समझो कि ज्ञान के बिना मोक्ष प्राप्ति का अन्य साधन नहीं है यह वेदों का सुस्पष्टतम सिद्धान्त है। प्रारंभिक साधन अनेक हैं परन्तु अन्तिम साधनों में भेद नहीं है। आज या कल यही साधन करना पडेगा। कब करो यह तुम्हारी इच्छा पर है। किये बिना कृतकृत्यता आने की नहीं यह निश्चय है। जो

साधन अदृष्टफलक हैं उनमें तो अन्धश्रद्धा भी संभव है। परन्तु परमेश्वरज्ञान प्रत्यक्षफलक है। अतः यहाँ तो फल को देख निश्चय स्वतः होता है। परमेश्वर प्राप्ति के शमादिसाधन भी प्रत्यक्षफलक ही हैं। शमादि से रहित को शिवप्राप्ति संभव नहीं। इन साधनों को वह अवश्य करवायेगा।

प्रकटार्थविवरण के लेखक श्रीपरमहंस स्वामी अनुभूतिस्वरूप गिरि जी बारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध शांकरसम्प्रदाय के आचार्य थे। श्रीपरमहंसों ने सर्वदा ही आचार्यशंकर के विद्यासम्प्रदाय परम्परा का संरक्षण करने पर जोर दिया है, बाह्य आडम्बरों एवं सम्पत्ति अर्जन उनकी दृष्टि में सदा हेय रहा है। आचार्य अनुभूतिस्वरूपगिरि जी ने भामतीकार के आक्षेपों का प्रत्युत्तर देने के लिये एवं शुद्ध श्री परमहंससम्प्रदाय के अनुकूल समग्र सूत्रभाष्य को सुलभ करने के लिये विवरण लिखना प्रारंभ किया। यद्यपि गूढार्थविवरण में एकादशशताब्दी के प्रसिद्ध वेदसिद्धान्तसंस्थापनाचार्य प्रकाशात्मगिरिपाद दण्डीसम्प्रदाय के मान्य आचार्य ब्रह्मसिद्धिकार मण्डनमिश्र एवं उनके अनुयायी भामतीकार वाचस्पतिमिश्र का मुंहतोड जबाब दे चुके थे तथापि गूढार्थविवरण भगवान पद्मपाद की पंचपादिका के चारसूत्रों पर ही था जिससे श्रीपरमहंसों को समग्र भाष्य का अध्ययन करने में कठिनाई होती थी। इस कमी को दूर करने के लिये एवं भामती में उक्त दोषों को उन्हीं स्थलों पर उद्धारित करने के लिये उन्होंने प्रकटार्थविवरण का आरंभ किया। पर वह युग मुसलमानों के अत्याचार का युग था। सिकन्दर लोदी का काल था। अतः किसी भी स्थान पर सुरक्षित रहना संभव नहीं था। ग्रन्थ लेखन के लिये पर्याप्त पुस्तकसंग्रह भी अपेक्षित होता है। भ्रमण करते हुए लेखन असंभव है। अतः उन्होंने स्वयं लिखा है 'ज्ञात्वापि यस्य बहुकालमचिंत-येन व्याख्यातुमक्षमतया परितापि चेतः।' उनके एक शिष्य ने एक जगह ग्रंथ सामग्री एकत्रित करके गुफा बना दी एवं उसके ऊपर कबर बना दी। आचार्य को गुफा में रख दिया। स्वयं मुसलमान के वस्त्र पहनकर पीर बनगया। अथा समय आचार्य को भोजन आदि पहुँचा देता था। गुफा के चारों ओर बगीचा लगा दिया। आचार्य को कुछ पता नहीं था। चित्त तो ग्रन्थ के विषय में लगा रहता था। नौ साल इसी प्रकार बीत गये। जब ग्रन्थ समाप्त हुआ तो वृत्ति में परिवर्तन हुआ। एकाग्रता से विक्षेपता आई। शिष्य को यावन वस्त्रों में देख आश्चर्य से पूछा 'कस्त्वं मच्छिष्यप्रतिरूपवान्?' शिष्य चरणों पर गिर पड़ा। जब सारी घटना सुनाई तो अनुभूतिस्वरूपाचार्य के आंखों में अश्रु आगया। प्रेम से शिष्य का आलिंगन किया। वीक्षण से ज्ञानप्रदान कर दिया। शिष्य शिवनिष्ठता को पा गया। शिष्य की एकाग्रता से शमरूप शुश्रूषा ही उसकी सिद्धि में हेतु बनी। आचार्य की उत्तमशमरूपता भी स्पष्ट है। ऐसे शमपूर्ण साधक एवं गुरु हों तो यहीं जीवन्मुक्ति सुलभ है। अनात्मचिन्तक गुरु कितना ही उपदेश करे शिष्य का कल्याण संभव नहीं। अशुद्ध एवं विक्षिप्त शिष्य को भी ज्ञानोपदेश नहीं लग सकता। 'मन के हारे हार है मन के जीते जीत' की लोकोक्ति भी शम की प्रधानता बताती है। 'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारण मुच्यते' से योगीश्वर श्रीकृष्ण भी शम का प्राधान्य स्वीकारते हैं। वस्तुतस्तु सांसारिक एवं पारमार्थिक दोनों प्रकार की सिद्धि के लिये मन ही कारण है। आर्थिक, सामाजिक, वैज्ञानिक

दृष्टि से उन्नत देशों को देखेंगे तो वहाँ भी मन का उन विषयों में एकाग्र होना स्पष्ट प्रतीत हो जायगा। मन में आत्मा के प्रति रुचि की तीव्रता हो जाय तो सभी साधन सरल हो जावें। अन्य साधनों की कमी बेशी श्रम की न्यूनता से भर जाती है। अतः नित्य निरन्तर शिव में लगे तो मोक्ष सिद्ध है। जिसमें यह सामर्थ्य न हो वह गुरु शुश्रूषा के द्वारा इस मार्ग का पथिक बने। मन की शान्ति इस लिये भी प्रधान है कि परमेष्ठी ने मन के द्वारा ही प्रधानरूप से जीव को घोर संसार में बांधा है। अथर्ववेद में सदाशिव से प्रार्थना की गई है 'इदं यत्परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम्। येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः॥' (१९.८) परमेष्ठी प्रजापति द्वारा निर्मित एवं सृष्टि के विषय में तीक्ष्णीकृत होने से जगत् का मूल कारण जो मन घोर कर्मों को करता है वही शिव प्राप्ति का साधन बनकर हमारा कल्याण करे।

ॐ

दम

यद्यपि साधनसम्पत्ति में शम की प्रधानता है तथापि विवेक, वैराग्य रूपी प्राच्यांग एवं दमादि उदीच्यांग के बिना शम सिद्ध नहीं होता। अतः अथर्ववेद में 'सम्यकप्रशान्तचित्ताय शमान्वितायं' शम के बाद ही दमानिर्दिष्ट है। यहाँ शम का अर्थ वेदज्ञ शंकर ने 'शमान्वितायं बाह्येन्द्रियोपरमेण युक्ताय' करके स्पष्ट उसे दम ही बताया है। दम अर्थात् बाह्येन्द्रियों को स्वकार्य में प्रवृत्ति न करने देना। अन्य मत यह भी है कि शास्त्रोक्त कामनारहित कर्मों को छोड अन्य कर्म, दैहिक या मानसिक, न करना ही दम है।

वस्तुतः इन्द्रियों के द्वारा ही मन के अन्दर संसार प्रविष्ट होता है। अतः उनके निरोध से मन में संस्कार वृद्धि रुक जाती है। केवल एकत्रित संस्कारों को निकालना रहता है। अन्यथा नित्य नवीन अभिवृद्ध संस्कार समस्या की बढोतरी ही करते हैं। किंच बाह्य प्रवृत्ति के रुकने से मन अन्तश्चिन्तन को बढाता है जिससे प्रत्यगात्मविषयक शिवविचार स्वतः फैलते हैं। सामान्यतः किसी विशेष ध्यान वाली अनुभूति आने पर सारे कार्य स्वतः रुक जाते हैं। स्वेदर बनाने वालियों का यह कथन सर्वथा निराधार है कि स्वेदरनिर्माण के साथ वे प्रवचन उतने ही ध्यान से सुन सकते हैं। देखा जाता है कि गंभीरविषय आने पर उनकी उंगलियां स्वतः रुक जाती हैं। अतः कवि, लेखक, गायक, वैज्ञानिक, गणक आदि सभी जब ठोस कार्य करना चाहते हैं बाह्येन्द्रियों को निरुद्ध करते हैं। दम व शम का घनिष्ट सम्बन्ध है। 'छिद्राणां तु निरोधात्सुखेन पारं परं याति। तस्मादिन्द्रियनिग्रहमृते न कश्चित्तरत्यनृतम्'॥ इन्द्रियरूपी छेदों के निरोध से संसार समुद्र से सुखपूर्वक पार जाया जाता है। एवं बिना इसके कोई भी नामरूप के पार नहीं जा सकता।

जब तक विषयों से वैराग्य न होगा इन्द्रियों का रोध चाहे हो भी जाय निरोध संभव नहीं। भगवान कृष्ण ने तो इसे मिथ्याचार ही कह दिया है। सच भी है क्योंकि हिरण्यकशिपु, कुंभकर्ण आदि ने तपस्या काल में दम किया परन्तु तपस्या पूर्ण होते ही पुनः भोगों में प्रवृत्त हो गये। यह रोध का सूचक है। निरोध में तो वेदान्तसम्प्रदाय-वेत्ता गौडपाद के अनुसार 'दमः प्रकृतिदान्तत्वात्' प्रकृति ही करणनिग्रह की हो जाती है।

गोलकनिरोध भी इन्द्रियनिरोध नहीं है। आंख को बन्द करना जैसा सरल काम चक्षुरिन्द्रियनिरोध नहीं है। आंख बन्द करने पर अंधकार को चक्षु देखती रहेगी। कान बन्द करने पर अन्दर की ध्वनि सुनते रहोगे। अतः योगज्ञों ने तत्तत्करण पर धारणा से दम सिद्धि बताई है। जिस प्रकार इन्द्रिय की बहिर्गति में मन सहकार आवश्यक है उसी प्रकार अन्तर्गति या गतिरोध में भी मन सहकार धारणा में आवश्यक है। धारणा अर्थात् मन में लीन करना। काठकसंहितोपनिषद् कहती है 'यच्छेद्वाङ्मनसी' वागुपलक्षित करणग्राम को मन में लय करे। मन से करण को अभिन्न करने के लिये प्रथम किसी एक करण को ले कर उसी पर एकाग्र करे। इसके अनेक साधन योग शास्त्र में प्रतिपादित हैं। प्रत्येक करण को लय करने के अलग अलग साधन हैं। किसी भी गुरुप्रदत्त युक्ति से किया जा सकता है। विशेषतः प्रत्येक व्यक्ति में कोई एक इन्द्रिय अधिक प्रबल होती है। किसी में उपस्थ की प्रधानता होती है तो किसी में स्वाद की। किसी में स्पर्श तो किसी में पायु। जैसा साधक होगा वैसी

ही साधना भी होगी। प्रधान इन्द्रिय के जय होने पर अन्य इन्द्रियाँ स्वभावतः निरुद्ध हो जाती हैं। कुण्डलिनी एवं आसन और बन्धयुक्त प्राणायाम स्नायुसंस्थान से साक्षात् सम्बन्ध वाले साधन काम में लेते हैं। मज्जास्थ केन्द्रनियन्त्रण के विशेष साधन भी हैं। पर यह सब साधन स्वयं नहीं किये जा सकते। अतः भाष्यकार शंकरभगवत्पाद ने एक उत्तम साधन इन्द्रियों को शिवमुखी करना बताया है।

'मनस्ते पादाब्जे निवसतु, वचः स्तोत्रफणितौ, करौ चाभ्यर्चायां, श्रुतिरपि कथाकर्णनविधौ।
तव ध्याने बुद्धिः, नयनयुगलं मूर्तिविभवे, परग्रन्थान् कैर्वा परमशिव! जाने परमतः?॥ (शि.ल.७)

मन को चरणकमलों में एवं बुद्धि को ध्यान में लगाना शम है। हे परमशिव! मेरी वाणी आपके स्तुति का उच्चारण करने में लगी रहे एवं दोनों हाथ आपकी पूजा करते रहें। मेरे दोनों चक्षु आपके मूर्ति के सुन्दरता में मग्न रहें एवं कान शिवसम्बन्धी लीलाओं का श्रवण करते रहें। वाणी और हाथ के साथ 'च' पद से सभी अनुक्त कर्मेन्द्रियाँ एवं नयन और कान से 'अपि' पद से अनुक्त ज्ञानेन्द्रियों का संग्रह है। इससे अधिक अन्य ग्रन्थों में और क्या साधन प्रतिपादित हो सकता है। स्वयं वेद भी यही कहता है 'यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा। यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमतेमितं। स्कम्भं तं ब्रूहि॥' (अथ.१०) जिसके लिये हाथ, पैर, वाणी, कान, आंख आदि सभी इन्द्रियाँ बलि (उपहार) सदा देती रहती है एवं जो परिमित शरीर में रहते हुये भी असीम अनन्त है वही शिव का ज्योतिर्लिंगरूप है। इस प्रकार अन्तःस्थ शिव का इन्द्रियोपहाररूपी विषयविज्ञान से यजन अन्तर्याग का महत्त्वपूर्ण स्वरूप है। यह दम का उत्तम साधन है। प्रारंभ में बहिर्याग रूप से भी यह साधन किया जा सकता है जिसका संकेत भगवान शंकर के उपर्युक्त उद्धरण में स्पष्ट है।

अन्य दमप्रक्रियाओं से नवीन संस्कारनिर्माण यद्यपि अवरुद्ध हो जाते हैं तथापि प्राचीन संस्कारों से मन अन्दर ही अन्दर, स्वप्न की तरह, सम्पूर्ण द्वैत प्रपंच खडा कर लेता है। परन्तु इस दम में अन्तःस्थ संस्कारों का शोधन भी होता रहता है अतः शम सरल हो जाता है। यहाँ अन्तःस्थ संस्कारों की बाह्य अभिव्यक्ति अवरुद्ध नहीं होती केवल बाह्य अशिव संस्कारों का प्रवेश नहीं हो पाता। जिस प्रकार पारसमणि के स्पर्श से लोहा भी सोना हो जाता है उसी प्रकार शिवसम्बन्ध से सामान्य विषय भी शिवसंस्कृत हो जाते हैं। अतः श्रुतियों में अन्य दमसाधनों की अपेक्षा इसे ही श्रेष्ठ स्वीकारा है।

कुछ विचारकों का मत है कि शम सिद्ध हो जावे तो दम अनावश्यक है। इसमें जनक का दृष्टान्त भी दिया जाता है। पर वे भूल जाते हैं कि इस प्रकार तो शुक, वामदेव आदि के दृष्टान्त से सारे साधन ही निरर्थक सिद्ध हो जावेंगे। जैसे जन्मसिद्धों के दृष्टान्त से उनकी पूर्वजन्मीय साधना अनुमेय है, वैसे ही शमसिद्धों में दमसाधना भी अनुमानसिद्ध होगी। मन की गति स्वतंत्र नहीं, इन्द्रियों के आधीन है। लंगडा आदमी स्वयं नहीं चल सकता। किसी के कन्धे पर ही जायगा। अतः यदि उसके वाहक को समझा दिया जाय तो वह अनिष्ट स्थल से बच जायगा। इसी प्रकार दम से मन का सुधार भी होता है। कुछ अन्य दान्तविचारक दम को ही प्रधान मानकर इन्द्रियनिरोध से ही कृतकृत्यता मानते हैं। पर दम से प्राचीनविकारनाश संभव नहीं। अतः वेदमार्गप्रकटनाचार्य शंकरभगवत्पाद दोनों का समुच्चय स्पष्ट प्रतिपादित करते हैं। बाहर का कूडा भीतर न आवे एवं अन्दर झाड़ू लगाकर कूडा बाहिर फेंका जाय तभी मन विशुद्ध बनेगा। मन की कोठरी में

अनादिकाल से कूड़ा भरते रहे हो। अब भरना बंद करने मात्र से काम नहीं चल सकेगा।

दम अर्थात् इन्द्रियों का निरोध। वेदान्त प्रत्येक क्रिया चेतनाधिष्ठित मानता है। अतः इन्द्रियाँ भी चेतन देवताओं से अधिष्ठित है। चेतन के बिना क्रिया की असंभवता का दार्शनिक विचार यहाँ अभीष्ट नहीं परन्तु स्वाभाविक व लौकिक बुद्धि इसे सर्वदा स्वीकार करती ही है। अतः कोई परिवर्तन देखते ही 'किसने किया' ही प्रथम प्रश्न होता है। उपर्युक्त वेदमंत्र में भी इन्द्रियों के लिये 'देव' शब्द आया है। वैज्ञानिक कारणवाद इस चेतनता को, जो निमित्तकारण का विचार है, न लेकर केवल उपादानकारण का विचार करता है। परन्तु विज्ञान में भी जो एकसूत्रता एवं विकासवाद (consistency and evolution) आदि की मौलिक मान्यताएं हैं वे अव्यक्तरूप से निमित्त-कारणवाद की स्वीकृति ही हैं। वेद तो चेतनवाद का सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त ग्रन्थ है। अतः वैदिक सर्वत्र अनुस्यूत चेतन को ही परमेश्वर मानता है। यही चेतन परिच्छिन्न अवस्था में देव, मानव, तिर्यक् आदि चेतन्यप्राणिरूप से प्रकट होता है। वस्तुतः यह समग्र प्रपंच शक्ति का विकास है जो शिव से नियंत्रित एवं संचालित है। यह निमित्तत्व और उपादानत्व अखण्ड सामरस्य उमामहेश्वर की अभिन्नता में कल्पित होने से वस्तुतः परमशिव ही एकमात्र तत्व है। अतः द्वैतापत्ति संभव नहीं। जहाँ उपादानरूप से शक्ति है वहाँ निमित्तरूप से चेतन अवश्य है क्योंकि शिव और शक्ति में भेद वास्तविक नहीं वाचारम्भण मात्र है। अतः परिच्छिन्न पदार्थ में परिच्छिन्नभावापन्न शिवशक्ति हैं एवं अपरिच्छिन्न शिवशक्ति के यह कल्पित अंशमात्र हैं। इन्द्रियों के परिच्छिन्नांश वाले शिव को ही इन्द्रियाधिष्ठाता देवता कहा जाता है। वेदों में पैर के अधिष्ठाता विष्णु, नेत्र के सूर्य, हाथ के इन्द्र, उपस्थ के प्रजापति आदि बताये हैं। इनकी कृपा के बिना दम असम्भव है। अतः उन उन इन्द्रियों के निरोध के लिये उन उन देवों की आराधना आवश्यक है। अथवा सर्वाधिष्ठाता उमामहेश्वर की आराधना द्वारा सभी देवता, स्वतः प्रधान की प्रसन्नता से सहयोगियों के प्रसन्नता की तरह, अर्चित होकर कृपा कर देते हैं। परमेश्वर के अंग ही सारे देव हैं यह वेदान्तों में अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया गया है। बिना शिवकृपा के इन्द्रियों का निरोध अपने जोर से करना संभव नहीं। आधुनिक अनेक वेदान्त के अभ्यासी व प्रचारक स्वयं अपने सामर्थ्य से ही प्रयास करते हैं एवं कई तो अर्धनास्तिक बनकर देवता एवं देवाधिदेव महादेव का भी अपलाप करने का दुःसाहस करते हैं। कई अन्य मानते हैं कि देव पूजन या शंकरार्चना कामनापूर्ति या कर्मकाण्ड में जो भी स्थान रखता हो आत्मज्ञान की साधना में आवश्यक नहीं। ऐसे लोग स्वयं भ्रम में पड़े हैं एवं दूसरों को भी पथभ्रान्त कर रहे हैं। स्वयं उपनिषद् की घोषणा है 'एषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विदुः' (बृ.उ.१.४.१०) जिसके भाष्य में जगद्गुरु शंकरभगवत्पाद लिखते हैं कि 'अविद्यावन्तं पुरुषं प्रति देवा ईशत एव विघ्नं कर्तुमनुग्रहं च। यं तु मुमोचयिषन्ति तं श्रद्धादिभि र्योक्ष्यन्ति, विपरीतमश्रद्धादिभिः। शरीराद्युपाधिजनितलोकदृष्ट्यपेक्षया देवानामित्याद्युच्यते। परमार्थतस्तु तत्र तत्र बुद्ध्येव। तस्मान् मुमुक्षुः देवाराधनपरः श्रद्धाभक्तिपरः प्रणेयोऽप्रमादी स्याद्विद्याप्राप्तिं प्रति'॥ अविद्यावस्था में पड़े जीव पर

देवता विघ्न या कृपा करने में अवश्य समर्थ हैं। जिसको मुक्त करना चाहते हैं उसे श्रद्धादि से युक्त करते हैं एवं जिसको बन्धन में रखना होता है उसे अश्रद्धा आदि देते हैं। यहाँ देवों में बहुवचन उनके शरीरादि की उपाधि से उत्पन्न लौकिक दृष्टि के कारण है। वस्तुतः वे ब्रह्मसंकल्प के सर्वथा अनुरूप होने से ब्रह्म ही हैं। अतः मुमुक्षु को देवों की या सर्वदेवस्वरूप उमामहेश्वर की आराधनापरायण होना चाहिये। विद्या में तभी श्रद्धाभक्तिपरायण होकर विनयी, अनालसी बन सकेगा। अतः भाष्यकार शंकरभगवत्पाद ने विस्तार से देवपूजा का वर्णन अपने प्रपंचसारतंत्र में किया है। शिवानन्दलहरी, सौन्दर्यलहरी, आदि में उमामहेश्वर के दार्शनिक स्वरूप का विचार है एवं उनके पट्टशिष्य स्वामी पद्मपाद ने विज्ञानदीपिका एवं प्रपंचसारविवरण में और सुरेश्वराचार्य ने मानसोल्लास में इसी का विस्तार किया है। सभी पीठों में एवं मठों में भगवती शारदा एवं भगवान् चन्द्रमौलीश्वर का पूजन विधिपूर्वक होता है। श्रीविद्यासम्प्रदाय में तो शांकरसम्प्रदाय का एकाधिकार सा ही है। उपासनासम्राट् होने के कारण ही सभी तान्त्रिक आम्नायों में शंकरभगवत्पाद का स्मरण विशेष श्रद्धा से किया जाता है एवं भास्करानन्दनाथ, राघवभट्ट, भास्कराचार्य जैसे आगमाचार्य उन्हें प्रमाणत्वेन उद्धृत करते हैं। कई आधुनिक असाम्प्रदायिक वेदान्ती इस रहस्य को न जान कर उपासनावाद एवं देवतावाद और महेशभक्ति से रहित वेदान्त का प्रचार करते हैं वे शांकरसम्प्रदाय के बहिर्भूत ही माने जा सकते हैं। शांकरवेदान्त तो 'यावदायुस्त्वया वन्द्यो वेदान्तो गुरुरीश्वरः। मनसा कर्मणा वाचा श्रुतेरेवैष निश्चयः॥' (तत्त्वोपदेश-८८) शिष्य को आज्ञा देता है कि जब तक शरीर रहे वेदसिद्धान्त, तत्त्वोपदेष्टा एवं केलिये महेश्वर का मन, वाणी व क्रिया से वन्दन करना यही श्रौत सिद्धान्त है। अतः दम के अभ्यासी (केलिये) देवाराधन भी आवश्यक है। अन्यथा देवकृपा से रहित होने पर इन्द्रियनिग्रह असंभव है। देवों की कृपा से गुरु आदि की प्राप्ति भी सहज हो जाती है। ज्ञान के सभी साधन सुलभ हो जाते हैं। गुरु के दूर होने पर या देह त्यागने पर देवकृपा से उपदेश भी मिल जाता है। अन्यथा उमामहेश्वर की कृपा न होने से 'विघ्ना आयान्ति वै बलात्' (बलपूर्वक) विघ्नसमूह आ खडा होता है। उनके अर्पण करने से सत्कर्म भी मायावृत्ति में 'इस जीव का मोक्ष हो' रूपी संकल्पनिर्मित कर देते हैं। इस प्रकार दम साधन मोक्ष पर्यन्त लाभ प्रदान कर सकता है। एतदर्थ ही प्रतिदिन 'ॐ शं नो मित्रः, शं वरुणः, शं नो भवतु अर्यमा' 'स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवाः' आदि प्रार्थनाएँ यतिवर्ग भी करता है।

ॐ

उपरति

'उपरतः सर्वैषणाविनिर्मुक्तः संन्यासी' कहकर वैदिकधर्मचक्रप्रवर्तक शंकरभगवत्पाद उपरति का स्वरूप ही संन्यास निर्धारित कर देते हैं। शम व दम का पूर्ण अभ्यास आश्रमधर्मों में रत लौकाचारपरायण गृहस्थ के लिये संभव नहीं। गुरुसेवापरायण ब्रह्मचारी एवं तपपरायण वानप्रस्थी भी इसके अनुकूल नहीं। शम-दम स्मृति प्रतिपादित दण्डतर्पणादि एवं आपारादि में संलग्न संन्यासी भी दम का पूर्ण अभ्यास नहीं कर सकता। अतः सर्वकर्मपरित्यागी श्रुति में उक्त श्रीपरमहंस ही शम-दम की पूर्णता प्राप्त कर सकता है। 'अतश्चैदमेवैकं वेदोक्तं पारिव्राज्यं, न यज्ञोपवीतदण्डकमण्डल्वादिपरिग्रहः' अतः श्रीपरमहंस ही एक मात्र वेद प्रतिपाद्य संन्यास है, यज्ञोपवीत बांधा दण्ड और कमण्डलु आदि का स्वीकार नहीं यह कहकर यतिकुलचूडामणि शंकरभगवत्पाद स्पष्ट ही अन्य यतियों को अवैदिक बतला रहे हैं। यह श्रौत परमहंस ही 'एषणाभ्यो व्युत्थानलक्षणं पारिव्राज्यम् आत्मज्ञानाङ्गम्' भाष्यकार के मत से सभी एषणाओं से छूटनेवाला संन्यास होने से आत्मज्ञान का अंग है। स्मार्त दण्डग्रहणादि वाला संन्यास तो 'तदुपतिरेकेण चास्ति आश्रमरूपं पारिव्राज्यं ब्रह्मलोकादि-फलप्राप्तिसाधनं यद्विषयं यज्ञोपवीतादिविधानसाधनं लिंगविधानं च' (शाण्डे) उस परमहंस संन्यास से भिन्न आश्रम संन्यास है जिसका फल ब्रह्मलोकादि फल की प्राप्ति है। उसी स्मार्त संन्यास के लिये यज्ञोपवीतादिसाधन एवं दण्डादिलिंगों का विधान किया गया है। अतः सभी एषणामात्र को छोडना रूपी साधन ही जिसमें कर्तव्य है वह परमहंस संन्यास ही उपरति है।

पूर्वानुभूत संस्कार से हेयोपादेयधी ही एषणा है। उन्हें प्रधानतया वित्त विषयक, स्त्री-पुत्र विषयक एवं लौकिक यशादि विषयक या पारलौकिक वैकुण्ठादिविषयक भागों में विभक्त किया जा सकता है। इन्हें ही एषणात्रय कहा जाता है। कर्म व तत्साधन एषणा पूर्ति करते हैं। एषणा का त्याग होने के बाद कर्म अनावश्यक हो जाने से उनका त्याग सहजसिद्ध है। जब तक एषणा की ज्वाला हृदय में जल रही हो श्रौतपरमहंस नहीं बन सकता। वैराग्य को पक्व करने के लिये ऐसा साधक स्मार्तसंन्यास ग्रहण कर सकता है। अथवा स्वकीय परिस्थिति में रहते हुए ही शनैः शनैः साधनसम्पत्ति का अभिवर्धन करता रहे।

परमार्थतः तो 'वृत्तेः दृश्यपरित्यागो मुख्यार्थ इति कथ्यते। गौणार्थः कर्मसंन्यासः श्रुतेरंगतया मतः॥ (सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह २०६) वृत्ति की दृश्यता का त्याग ही संन्यास का मुख्यार्थ है। वृत्ति ही दृश्य व द्रष्टाभेद में कारण है। अतः वृत्ति का दृश्यत्व छूटा तो एषणा स्वतः छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्' के न्याय से नष्ट हो जायगी। 'मा भव

ग्राहकात्मा च मा भव। भावनामुभयं हित्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव'॥
न दृश्यभाववाला बन और न द्रष्टाभाववाला ही बन। दोनों भावों को छोड़कर जो अवशिष्ट सर्वाधिष्ठान शान्त अद्वैत समरस शिवभाव है उसी से तद्रूपता में स्थित रह। यही परमार्थ उपरति या संन्यास है। इसमें न हेय है, न उपादेय है। परन्तु यह साध्य उपरति है। 'चलाचल निकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत्' (मा॰ का॰ २. ३७) कभी देह में प्रारब्ध के प्रवेग से रहता है और बाकी समय अखण्डचिन्मात्र ही उसका आवास होता है। यह श्रीपरमहंस जो अकस्मात् प्राप्त हो जाता है उसी पर निर्भर रहता है। यही भगवान गौडपाद के मत से यतिचर्या है। इसी प्रकार वेदान्तविद्यापीठप्रवर्तक शंकरभगवत्पाद 'भिक्षाचर्यं चरन्ति त्यक्त्वा स्मार्तं लिंगं केवलं आश्रममात्रशरणानां जीवनसाधनं पारिव्राज्यव्यंजकम्। अथ परिव्राड्विवर्ण वासा मुण्डोपरिग्रह इत्यादि श्रुतेः।.... अप्रख्यापयन्नात्मानमहं एवंविधः ... स्तुतिनमस्कारादिसर्वकर्मविवर्जितः ... यदृच्छाप्राप्त-कौपीनाच्छादनमात्रदेहस्थितिः ...' कहकर श्रीपरमहंस का बाह्य आचरण बताते हैं कि वह स्मार्त चिह्न दण्ड कमण्डलु आदि का त्याग करके श्रौत संन्यासी बनता है जिसमें चर्या केवल भिक्षा से है। स्मार्त दण्ड आदि चिह्न तो उन आत्मज्ञान एवं पाण्डित्य से रहित संन्यासी के लिये हैं जो केवल आश्रम मात्र के सहारे अपने संन्यास को प्रकट करते हुए किसी प्रकार जीवन निर्वाह करने को अपनी महत्ता प्रतिपादित करते रहते हैं। जो परमार्थ संन्यासी है वह तो विवर्णवस्त्र, मुण्डा हुआ एवं अपरिग्रही होता है ऐसा श्रुतिओं में प्रतिपादित है। अतः अपने को मैं ऐसे वर्ण, कुल, विद्या, ज्ञान, गुण आदि वाला हूँ ऐसा प्रकट न करते हुये किसी की प्रशंसा या नमस्कार आदि सभी कर्मों को छोड़कर स्वतः अनायास प्राप्त वस्त्र कम्बल, भोजन आदि से देह की रक्षा करे। कहाँ भाष्यकार का यह संन्यास आदर्श और कहाँ इदानींतन बांस के दण्ड मात्र से अपने को कृतकृत्य समझते हुये अपने को शंकराचार्य के अनुयायी दरसाने वाले बहिर्मुख यतिवृन्द। परन्तु उपरति के इस मुख्यादर्श को विस्मृत करने का ही यह फल है।

मुख्य उपरति की संभावना साधक में न होने पर भी गौण उपरति कर्तव्य है। यह सर्वकर्म और उनके साधनों का परित्याग है। यह भी जो करने में असमर्थ हो वह सभी पदार्थों में शिवस्वामित्व की दृष्टि करे तो भी कल्याण पथ का पथिक बनकर एक दिन अवश्य गन्तव्य को पहुँच जायगा। वस्तुस्थिति यही है कि मनःस्पन्दनमात्र रहते भी त्रिपुटी का ग्रहण न होना ही संन्यास या उपरति है। उपरति की सिद्धि से मन पूर्णतः शान्त व शुद्ध हो जाता है एवं दम स्वाभाविक हो जाता है।

सभी शिव को अर्पण करना अनेकों को व्यवहार में कठिन प्रतीत होता है क्योंकि परमेश्वर का नाम लेने पर भी अपनी मिल्कियत बनी रहती है। अतः जो उपरति के दृढ निश्चयी हों वे अपने गुरु को भी अपना सर्वस्व धन, पुत्र, गृह, देह आदि अर्पित करके अपनी एषणाओं से छूट सकते हैं। पर उसके बाद उन पदार्थों में अपनत्व लाना पाप होगा। लाभ हो या हानि जैसी गुरु की आज्ञा हो मानना पड़ेगा। कठिन से कठिन काम करना पड़ेगा। शिवाजी ने इसी प्रकार सर्वस्व गुरु समर्थरामदास को अर्पण किया था। आजकल तो सर्वस्व अर्पण का नाटक अनेक सम्प्रदायों में प्रचलित हो गया है। उससे तो लाभ क्या हो सकता है, हाँ अयोग्य व्यक्तिकें

के उच्च पद पर आकर गुरुडम चलाने से हानि की सीमा नहीं रहती। अतः यह एक उदात्त उपरति का रूप है, केवल उपचार मात्र नहीं। विवेक-चूडामणि का कथन है 'गुरुरेवं सदानन्दसिन्धौ निर्मग्नमानसः। पावयन् वसुधां सर्वां विचचार निरन्तरम्'॥ सदा आनन्द समुद्र में मन को डुबा कर सारी पृथ्वी को निरन्तर पवित्र करते हुए जो भ्रमण करता रहता है वही गुरु है। एवं ऐसा गुरु 'गुरूणां वचनं पथ्यं दर्शनं सेवनं नृणां। गुरुर्ब्रह्म स्वयं साक्षात् सेव्यो वन्द्यो मुमुक्षुभिः॥ (तत्त्वोपदेश-८५) जो भी कहेगा वह हितकारी होगा। उसका दर्शन, उसकी सेवा साक्षात् परब्रह्म की सेवा ही है। अतः मोक्षाभिलाषियों को उसकी सेवा व वन्दना करनी चाहिये। काश्मीर के मातृगुप्त के निःस्वार्थ प्रेम से की दीर्घकालीन सेवा का फल जैसे शकारि विक्रमादित्य ने पांचाल देश का राजा बनाकर दी थी वैसे ही गुरु भी ऐसी सेवा से प्रसन्न हो मोक्षसाम्राज्य प्रदान कर देते हैं।

गुरु का सबसे बड़ा प्रसाद है साधक को उपरति मार्ग में दृढ करना। विषयों में वैराग्य, शम दम आदि के साधन में वास्तविक कठिनाई है कि प्रयत्न करने पर भी सत्त्वत्वधी बनी रहती है। जैसे संस्कृत भाषा कठिन मानी जाती है क्योंकि हमारे वंश या मित्रों में किसी को इसका ज्ञान नहीं। यदि हम किसी संस्कृतज्ञ के साथ रहें तो भाषा शीघ्र आ जाती है। उसी प्रकार गुरु सन्निधि से संसार में सत्यत्वधी निवृत्त हो जाती है। आधुनिक शिक्षा पद्धति में केवल शाब्दिक या रूखी भाषावेत्ताओं के साथ ६ मास रहने से भाषा का पूर्ण ज्ञान होना सिद्ध किया गया है। व्यवहार में भी मारवाडी तामिल देश में रहने से अनायास तामिल सीख जाता है। इसी प्रकार यदि केवल ब्रह्मनिष्ठों का संग कुछ समय के लिये मिल जाता है तो शिवस्वरूपता शीघ्र निष्ठा में परिणत हो जाती है। संन्यास ग्रहण से यह दृष्टादृष्ट फल भी है ही। गुरु एवं ब्रह्मनिष्ठों के आदर्श हमें दुर्गम ज्ञान पर्वत पर चढने का साहस देते हैं। वे भी एक समय हमारे जैसे ही थे एवं साधन से इस पर आरूढ हो गये हैं तो हम क्यों नहीं हो सकते ऐसा उत्साह स्वाभाविक है। अतः उपरति का अर्थ गुरु सन्निधि एवं गुरु समर्पण भी है। जिस प्रकार सिपहसालार की आज्ञा पालन करने मात्र से सिपाही सर्वोत्तम पदक पा लेता है पर आवश्यक है कि वह उसकी आज्ञा में स्वयं नुक्ताचीनी न करे क्योंकि सिपाही की दृष्टि परिच्छिन्न है एवं सिपहसालार की व्यापक, उसी प्रकार संभवतः जिसे गुरु प्रधान दोष या साधना समझें शिष्य की दृष्टि में वह गौण ही हो। ऐसा आज्ञापालन अन्ततः शिवप्राप्ति करा देता है।

एक गुरु ने अपने शिष्य को खेती करने की आज्ञा दी। परिश्रमपूर्वक उसने अनाज पैदा किया। जब अन्न बोरों में भर गया तो गुरु ने उसमें आग लगाने की आज्ञा दी। शिष्य नानुनच करने लगा। गुरु ने कहा कि मेरी चीज का मैं मन में आवे सो करूँ। क्या तेरा है? शिष्य समझ न पाया। गुरु चल दिये। उपरति या संन्यास हो गया होता तो जितने उत्साह से खेती की थी उसी उत्साह से आग भी लगा देता। अतः यह भी केवल वाग्वदन मात्र नहीं है। ऐसे असंभव स्थलों में परीक्षा लेकर ही गुरु अन्तिम ज्ञान प्रदान करते हैं।

गुरु के स्थान पर वेद की आज्ञा या भगवान शंकर की आज्ञा को भी रखा जा सकता है। परन्तु उनका अर्थ समझना साधारणतः संभव नहीं। वस्तुतः गुरु देह में हो यह आवश्यक नहीं। जिसके ग्रन्थ उपलब्ध हों उन्हें भी गुरु माना जा सकता है। परन्तु वे ग्रन्थ स्वयं आचार्य के हों। अन्यथा शिष्य प्रशिष्यों द्वारा न जाने आप्तवाक्य से वे कितने दूर हो गये हों। संसार में बुद्ध के मरने के १०० वर्ष बाद उनके वाक्यों का संग्रह त्रिपिटक में हुआ। ईसा के १५० वर्ष बाद बाइबिल लिखी गई। भगवत्पादशंकर ने स्वयं ग्रन्थ लिखे एवं उनके साक्षात् शिष्यों ने उन्हीं के जीवनकाल में उन ग्रन्थों का व्याख्यान लिखा। अतः शंकरभगवत्पाद को गुरु मानकर चलना सहजसरल है। कभी कभी सिद्ध देह से भी गुरु उपदेश देते हैं। भक्तिमान् को तो स्वयं देहवान् बनकर शिव उपदेश देते हैं यह इदानींकाल में महर्षि रमण के जीवन में प्रत्यक्ष था। इस प्रकार किसी भी प्रकार अपना सर्वस्व त्याग रूप जो संन्यास है वह अलिंगरूप से सभी ग्रहण कर सकते हैं। फिर अपना न रहने के कारण पदार्थ संस्कार नष्ट होते जाते हैं एवं स्पन्दमात्र रह जाता है।

ॐ

तितिक्षा

उपरत होने के लिये कष्ट सहन आवश्यक है यह पूर्व प्रकर
-ण में स्पष्ट हो गया होगा। दैहिक एवं मानसिक कष्ट से घबराने वाला कभी भी
संन्यासी नही बन सकता। अलिंगसंन्यास में भी कष्ट तो है ही। अतः उपरति की
सिद्धि के लिये अग्रिम साधन तितिक्षा कर्तव्य है। 'तितिक्षुः द्वन्द्व राहित्यगुः' से
श्रीपरमहंससम्प्रदायभूषण शंकर संक्षेप में सभी कुछ कह देते हैं। जो भी जोडे में आता
है वह एक के बाद एक चक्रवत् भ्रमण करता रहता है। एवं कभी इष्ट होता है कभी अनिष्ट। अतः
उसे सहन कर लेना ही तितिक्षा है। विवेक यदि अश्व है एवं वैराग्य तलवार तो तितिक्षा
बख्तर है। जिस प्रकार बख्तर अरिप्रहारों को सहन स्वयं करके सैनिक की रक्षा करता है
उसी प्रकार तितिक्षा सभी द्वन्द्व प्रहारों को बिना शिकायत सहन कराने की सामर्थ्य देता
है। तितिक्षा के बल से ही साधक बिना विचलित हुये साधना पर डटा रहता है।

द्वन्द्व का मूल है इष्टानिष्ट का दृढ संस्कार। भुज्यमान पदार्थ में
से इस बुद्धि को निवृत्त करना प्रथम साधन है। वस्तुतः वैराग्य से ही यह काफी सिद्ध
हो जाता है। परन्तु जब जब इष्टधी या अनिष्टधी आवे तब तब पौनःपुन्येन अनित्यता एवं
असुरक्षता की दृष्टि करने से भोग्यार्थ में दोषधी उत्पन्न हो जाती है। संसार में जो भी भोग्यार्थ
उपलब्ध होता है स्वप्रयत्न एवं स्वयोग्यता के अनुरूप ही होता है। योग्यता पूर्व प्रयत्नों का
वर्तमान में फल है। अतः योग्यता की न्यूनता या वृद्धि प्रयत्नाश्रित ही है। यदि मुमुक्षु इस
प्रयत्न को तत्तत्काल में आये दुःखों की निवृत्ति में लगा देगा तो श्रवण, मनन, निदिध्यासन
रूपी कर्तव्य करना उसके लिये अशक्य हो जायगा। दुःख तो एक के बाद दूसरे आते ही रहेंगे।
दैहिक दुःख निवृत होगा तो मानस आयगा। इस प्रकार साधक स्वेस्वरूप से भ्रष्ट हो जायगा

√तिज् सहने में सन् इच्छार्थक प्रत्यय से तितिक्षा शब्द
व्युत्पन्न होने से सहन करने की इच्छा तितिक्षा का अर्थ सिद्ध होता है। अतः सहन करना
मात्र नहीं उसमें इष्टता ज्ञान भी आवश्यक है। विवेक चूडामणि इसीलिये 'अप्रतीकार-
पूर्वकं चिन्ताविलापरहितं' का लक्षण में निवेश करती है। कम्बल, खस आदि से सर्दी गर्मी
आदि दुःखों का प्रतीकार प्रत्यक्षसिद्ध है। उनकी प्राप्ति के साधनों से रहित हम दीन क्या करें यह
चिन्ता एवं उसका प्रकट करना प्रलाप है। ऐसा व्यक्ति सर्वदा किसी न किसी वर्तमान
या भविष्य द्वन्द्व के अनिष्टसम्बन्धों के प्रति चिन्तित बना रहेगा। जो दुःख प्राप्ति को
एक चुनौती मानकर उसका प्रतीकार किये बिना चिन्ता व प्रलाप से रहित होना
विजयचिह्न मानेगा वही वास्तविक तितिक्षु माना जायगा। जो दुःख में रमण कर
सकता है (to court trials) वही तितिक्षा की सिद्धि कर सकेगा। संन्यास ग्रहण
एक प्रकार का नैतिक साहस (moral adventure) है। समग्र निश्चित
साधनों का परित्याग कर न केवल मानस और वाचिक वरन् भौतिक रूप से
भी परमशिव की शरण ग्रहण है। अतितिक्षु में यह साहस कभी न आ सकेगा।
तितिक्षु तो जिसे अन्य साधारण लोग कष्ट

मानते हैं उनकी कामना तरु करता है एवं उसे वास्तविक सुख मानता है। परन्तु इस का अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि दुःख को ढूंढना या बुलाना चाहिये। जिस आदर्श को हमने सामने रखा है उसके पालन करने में जो दुःख आवश्यक है उन्हें वस्तुतः इष्ट ही समझना। जैसे एकान्तसेवन से चित्तस्थैर्य में अभिवृद्धि होती है। एकान्तसेवन में अनेक असुविधाएं स्वाभाविक हैं। उनसे न घबराना वरन् उन्हें साधनांग रूपसा उपादेय स्वीकारना ही तितिक्षा का स्वरूप है।

सांसारिक पदार्थों की सफलता भी तितिक्षा के बिना संभव नहीं। धन कमाने वाला घर से दूर परदेश जाता है एवं भोजन की नियमितता, पत्नी के संवेदन, पुत्रसुख आदि के अभाव से पीड़ित होता है, तितिक्षा से सह लेता है तभी धनी बनता है। पति के विदेश जाने पर कामाग्नि की तितिक्षा करने वाली पत्नी ही पतिव्रता बनी रह सकेगी। रात्रि में जाग कर, प्रातः शीघ्र उठकर एवं मित्रों के साथ चलचित्र, क्रीडांगन जाने के सुख को छोड़नेवाला 'विद्यार्थी ही विद्वान् बन सकेगा। इसी लिये संस्कृत भाषा के वर्णों में त्रिविध 'संस्कारों को संगृहीत किया गया है। 'सहस्व' की विराकृत्ति ही भानुजी ने इसमें समझी है। विवाचा से प्रतिज्ञा पुष्ट मानी गई है। राम ने वनगमन एवं पत्नीहरण का कष्ट न सहा होता तो वे आज भगवान राम न कहे जाते। जितना जिस अंग का परिश्रम होता है उतना ही वह अंग पुष्ट होता है। इसी प्रकार जितना ही स्वादर्श परिपालन में आगत कष्टों को हर्षपूर्वक सहेगा उतनी ही उन्नति होगी। मानावमान को सहन करने की क्षमता जितनी अभिवृद्ध होगी उतनी ही मानस सामरस्यता पुष्ट होगी। संन्यासी के माधुकरभैक्ष्य के विधान में अनेक कारणों में सामरस्य प्राप्ति की कारणता भी है ही। एक दिन कोई अर्चा करता है तो दूसरे ही दिन कोई गाली देता है। इससे शनैः शनैः मन की शक्ति बढती जाती है। अन्ततः ऐसी शक्ति आ जाती है कि दोनों अवस्थाओं में 'महती उपेक्षा' बनी रहती है।

वस्तुतः तितिक्षा की अभिवृद्धि के लिये ही तप तात्पर्यवान् है। 'तपः स्वाध्यायनिरतं' ही आदर्श भारतीय है। तप हमारा ऐश्वर्य है, हमारी शक्ति है एवं हमारी सांस्कृतिक कोषालय की तालि है। वैदिकधर्म के आराध्य देव भगवान भूतभावन महाकाल श्मशान में वास करते हुये तप एवं तितिक्षा के आदर्श को सदा स्मृति पथ में लाते रहते हैं। आधुनिक युग में न केवल भौतिक क्षेत्र में अपितु आध्यात्मिक क्षेत्र में भी भोगवाद प्रधान होता जा रहा है। साधक भी आदर्श की उपेक्षा आराम को अधिक महत्त्व देता है। सारे राष्ट्र में इसने एक नपुंसकता पैदा कर दी है। 'नाजुकता' को उपादेय समझा जाता है। भारत को भौतिक एवं मानस कष्टसहन में निहित जो अर्हाएं हैं उन्हें पुनः समझना पड़ेगा। अन्यथा विकास असंभव है। 'आराम हराम' का नारा बनाने वाला जो भी उसका अर्थ करता रहा होगा आधुनिक अर्हाशून्य संस्कृति में तो 'हराम से आराम' ही इसका व्यावहारिक अर्थ हो गया है। चिकित्साशास्त्र का निर्णय है कि देह को उत्तेजित करने से प्रतिवादी तत्त्व उत्पन्न होते हैं (Vaccination leads to anti-bodies) यद्यपि इसमें देह को कष्ट होता है। इसी प्रकार मानसजगत् का भी रहस्य है। अतः देह पुष्टि के लिये जिस प्रकार कष्टदायक व्यायाम आवश्यक है उसी प्रकार तप मन के लिये आवश्यक है। लेकिन तप साधन है साध्य नहीं यह न भूलना चाहिये।

कष्ट से देह-मन में चुस्ती आकर स्वास्थ्य लाभ होता है। जिस प्रकार कान्दव (tennis), तरण (Swimming) आदि क्रीडाएं हैं वैसे ही तप है। जिस प्रकार सेना में नियमित कवायद आदि से सामर्थ्य (stamina) अभिवृद्ध की जाती है उसी प्रकार साधक में भी तप से सामर्थ्य बढती है। सामर्थ्य से शत्रुजय करना उद्देश्य है। यहां भी अज्ञानरिपुनाश ही उद्देश्य है। निरन्तर आनेवाले सुखदुःख से जो साम्य भाव से च्युत होता रहेगा वह कभी शिवनिष्ठ नहीं हो सकेगा। अतः तितिक्षा में कमी अलंघी नहीं कर लेनी चाहिये।

कुछ अनभ्यासियों का सिद्धान्त है कि देह को कष्ट देने से क्या लाभ? मन की तितिक्षा ही वास्तविक है। यदि प्रारब्ध से बलात् सहना ही पडे तो बात दूसरी है। मानसतितिक्षा की प्रधानता तो वैदिकों को भी सम्मत ही है। परन्तु बालशीतोष्णादि द्वन्द्व जो नहीं सह सकेगा वह मानावमान को सहेगा यह आशा करना कठिन है। यह बात दूसरी है कि प्रत्येक देह के सहन करने की सीमाएं भिन्न हैं परन्तु उस सीमा के अन्दर तितिक्षा तो कर्तव्य है ही। जो दया, प्रेम, ध्यान आदि से अन्तः गंगास्नान की महिमा बताकर माघ के ठण्डे गंगास्नान से बचाने में अपनी बुद्धि को व्यय करना है उसके देहाध्यास का आग्रह ही उसके अज्ञान की सर्वोत्तम गवाही है। स्नानभीत में शुद्धि एवं ध्यान की दुर्लभता सहज सिद्ध है। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रत्येक माघ प्रयाग स्नानी अनास्तितिक्षु है या स्नान न करनेवाला तितिक्षु नहीं है। तात्पर्य है कि आग्रह न होना चाहिये। आग्रह देहाध्यास का द्योतक है। देह की रक्षा में निरन्तर रत के लिये विवेक चूडामणि का कथन है 'शरीर पोषणार्थी सन् य आत्मानं दिदृक्षति। ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं स इच्छति' कि वह घडियाल को लकडी समझ कर नदी पार करनेवाले की इच्छा वाले की तरह महाभ्रम में पडा है। देह में पीडा जबतक मन में ज्ञात नहीं होगी पीडा नहीं कही जा सकती। अतः मानसतितिक्षा की पूर्णता में देहपीडा की तितिक्षा तो सहज ही सिद्ध हो जायगी। देहकष्ट से मनकष्ट प्रसूत है। इसी प्रकार देहविषयक तितिक्षा से मनविषयक तितिक्षा भी प्रसूत हो यह नैसर्गिक है। मानसदुःखसहन से मानसतप की उत्तरोत्तर वृद्धि से पुण्यफल तो मिलता ही है।

अतितिक्षु नाममात्र के कष्ट से घबराकर धर्म त्याग कर देता है। कठिनतम परिस्थिति में भी नित्य नैमित्तिक कर्म एवं धर्म का पालन तितिक्षु के लिये सहज है। शरीर तो व्याधि का मन्दिर है। अतः जो बहाने ढूंढता रहेगा उसे अत्यल्प काल ही ऐसा मिलेगा जो शिवयोग में लगाया जा सके। अतः जबतक देह घोडा भी पतले अभ्यास का त्याग न करे। बिना कष्ट को बुलाये अभ्यास में विघ्नरूप से स्वतः प्राप्त दुःख के प्रति महती उपेक्षा से उदासीन भाव रखना ही तितिक्षा का साधन है। इस की अभिवृद्धि के लिये 'आगमापायिनो नोऽनित्यास्तांस्तिति भारत' (गी२.१४) श्रीकृष्ण ने दुःखों के आने जाने वाले स्वरूप पर धारणा करके वैराग्य अभिवृद्धि पर जोर दिया है। वैराग्यपूर्ण होने पर तितिक्षा सरलता से सिद्ध हो जाती है। तितिक्षा की दृढता से उपरति दृढ होगी एवं समाधान की प्राप्ति संभव होगी। लौकिक पदार्थों में भी सिद्धि के लिये जब 'देह रहे या जाय' की भावना होती है तो संकल्प दृढ होकर तितिक्षा स्वभाव में आजाती है।

ॐ

समाधान

दुःख निवृत्ति मात्र साधना का उद्देश्य नहीं। निरतिशय भूमा आनन्द की प्राप्ति ही साध्य है। उसके बिना कार्य सिद्ध नहीं। योग्य वैद्य रोग निवृत्ति के लिये प्रथम रोग का निदान ① करता है। फिर दवा ② देता है। दवा के प्रयोग ③ का तरीका बताता है। कुपथ्य ④ का त्याग करवाता है। पथ्य (५) सेवन का आदेश देता है। इन पंचावयव से ही नीरोगता संभव है। यथा रक्तचाप निदान है। सर्पिना दवा है। गर्म दूध के साथ रात्रि में लेना प्रयोग है। जानवरों को खाना कुपथ्य है। उबली तरकारी मात्र पथ्य है। एवमेव संसारि भाव में ब्रह्म का आना एक रोग है। अविद्या इस रोग का निदान है। ब्रह्मज्ञान दवा है। श्रवणादि प्रयोग है। शमादि कुपथ्यत्याग है। समाहितता व श्रद्धा पथ्य है। इसी पथ्य पर आगे विचार करना है। सारे साधन संयुक्त होकर ही शान्ति प्राप्ति करा ब्रह्म को जीवभावरूपी रोग से मुक्त करेंगे।

'समाहितः इन्द्रियान्तःकरणचलनरूपाद् व्यावृत्त्य ऐकाग्र्यरूपेण भूत्वा' ही यहाँ समाधान का वास्तव स्वरूप है यह उपर्युक्त बृहदारण्यकभाष्य से स्पष्ट है। यद्यपि समाधान योगशास्त्र में समाधि को ही कहा जाता है एवं वेदान्त में निदिध्यास न भी प्रायः समाधान कह दिया जाता है तथापि यहाँ वह इष्ट नहीं हो सकता। वह साध्य कोटि में है एवं यह साधना कोटि में है। समाधान का शमदम से भी भेद स्पष्ट समझ लेना चाहिये। शम में मन का चांचल्य रहता तो है परन्तु अभ्यास से दबा हुआ। इसी प्रकार इन्द्रिय की अवस्था दम में है। समाहित में दोनों का चांचल्य स्वभावतः व्यावृत्त हुआ रहता है। किसी हेतुविशेष से चलन हो सकता है। अतः यहाँ एकाग्रता से किसी कार्य में लगना प्रधान है। शमदम अभ्यासकाल में उसी में लगे रहना पड़ता है। चित्तवृत्ति का एवं इन्द्रियों का निरोध होने से ही मोक्ष योगी मानते हैं। परन्तु दुःख तो निवृत्त इतने से हो जायगा सुखरूप नहीं आयगा। उसके लिये श्रवणादि में आगे लगना है। यह भावात्मक सामर्थ्य प्राप्त करना ही समाहित होना है। इसीलिये अन्यत्र भगवान भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि 'वाक्यान्यर्थतो निश्चयेन ध्यातुमिच्छ' वेदान्तवाक्यों के अर्थ का निश्चय करने में चित्तएकाग्रता की इच्छा ही समाहित पद से विवक्षित है।

वेदान्तवाक्यों का तात्पर्य जीवेश्वर की एकता में है। इसी एकता में मन को लगाना ऐकाग्र्य कहा जाता है। इसकी सिद्धि के लिये किया जाने वाला प्रयास भी योगरूप से ऐकाग्र्य है। इसी में चित्त को सम्यक् अच्छीप्रकार से आहित करना ही समाहित होना है। इस विचार में इतना डूब जाना कि बाह्य अनात्मपदार्थों की सत्ता ही न रहे समाधान की सिद्धि है। जिस प्रकार जल में अवगाहन अर्थात् डुबकी लगाने वाला जल में रमा जाता है वैसा ही यहाँ भी समझना चाहिये। यह भय न करना कि डूब के मर जावेंगे। यह तो अमृत है। इसमें अवगाहन करने से तो अमरता ही आयगी। परन्तु ऐसा अवगाहन नहीं जैसा गंगा किनारे काशी में होता है। गायत्रीजप के साथ सिर व हाथों की मुद्रा से साथी के साथ बातचीत भी चलती रहती है।

सद्गुरु शिष्य को प्रथम मार्गप्रदर्शन करता है। फिर अपने तत्त्वानुभव को बतलाकर साहस उत्पन्न करता है। तृतीय शिष्य के मानस दोषों का अध्ययन कर भिन्न भिन्न दोषों को हटाने के लिये एवं वृत्ति तथा संस्कारों की तत्तत्प्रावल्य को दूर करने के लिये उनका निर्देश मात्र करता है। चतुर्थ उनके निवारण की अनेक युक्तियाँ बतलाता है। अन्त में युक्ति को व्यवहार में लाकर उसे अनुभवगम्य कराता है। इस को जीवन में लाना यह अन्तिम कार्य केवल शिष्य के अधीन है। तभी शान्ति प्राप्त होकर सुखानुभव संभव है। समाधान प्रधानतया अतएव शिष्याधीन है। श्रुत्यर्थ का प्रतिपादन करते समय शिष्य का मन जरा भी चंचल रहा तो अर्थावबोध असंभव है। इसीलिये आजकल वेदान्त का सर्वाधिक ढिंढोरा पीटने पर भी ज्ञानी दुर्लभ ही हैं। लोग शहद की बोतल से थोडा थोडा शहद लेकर मिठास की पूर्णता नहीं पा सकते। पूरा चम्मच भर कर लेने से ही मिठास का आनन्द संभव है। इसी प्रकार यहाँ भी वेद का तात्पर्य निर्णय एकत्र करने से ही अर्थ निश्चय होता है। अन्यथा दृढनिश्चय संभव नहीं। प्रायः एकमास भी यदि संसार से निवृत्त हो एकान्त में विधिपूर्वक श्रवण करे तो वर्षों के थोडे थोडे सत्संग से अत्यधिक लाभ हो सकता है। परन्तु वह निश्चय किया हुआ अर्थ फिर प्रतिदिन निदिध्यासन होता रहे तभी स्थिर रहेगा। दृढ होने पर पुनः इसी प्रकार एकमास डुबकी लगावे। इस डुबकी से मरे भी जी जाते हैं। विषयेन्द्रियसुख में रमण ही मृत्यु का हेतु होने से वास्तविक मृत्यु है। जो अपनी रक्षा न करे वही मरा हुआ है। श्रुति भी उन्हें 'आत्महनो जनाः' कहती है। श्रुत्यर्थ में अवगाहन विषयेन्द्रियसुख से उपरमण लाकर समाहित भाव में स्थैर्य व दार्ढ्य आपादित करता है।

मन का चांचल्य हटाना शम के अभ्यास में ही सम्पन्न हो जाता है परन्तु यह उस भूत की तरह है जो दबता नहीं। एक सेठ जी सन्तों के पास जाया करते थे। अधिकांश सत्संगी सदाशिव को नहीं ऐश्वर्य प्राप्त करने को ही सन्त समागम करते व कराते हैं। यद्यपि शिवयोगी में सभी सिद्धियाँ स्वतः रहती हैं पर वह उनका उपयोग मानव को शिव की तरफ लगाने में ही करता है, केवल प्रदर्शन या ऐश्वर्य देने के लिये नहीं। सेठ जी भी ऐश्वर्य कामी थे। सभी सन्तों से जिक्र करते। पर सन्तवृन्द शिवोपासना का उपदेश दे जाते। एक बार श्रीपरमहंस अमृतगिरि जी पधारे तो उन्हें भी उसने अनुनय पूर्वक निवेदन किया। स्वामी जी ने सिद्धि के हानियों को दर्शाया पर सेठ न माने। अमृतगिरि जी ने एक डिब्बी में से भूत निकाल कर दिया और कहा इससे काम लेते रहना। खाली बैठा तो खा जायगा। सेठ बडा ओद्योगिक था। सोचता था मेरे पास अनेक काम हैं। बडा प्रसन्न हुआ। मकान आदि के अनेक काम बताये पर भूत तो ठहरा भूत, विहोरा मात्र में करके खाली हो जाय। कहे कि सेठ काम बता नहीं तो खा जाऊँगा। एक दिन में ही सेठ तंग होकर श्रीपरमहंस जी के पास गया तो महात्मा ने हंसकर कहा 'इसे लट्ठे पर चढने उतारने का काम दे दो।

अब भूत शान्त रहने लगा। अन्त में थककर सेठ से विदा मांगी। सेठ ने जब बुलाऊँ तब आना यह वचन लेकर विदा किया। मन ही भूत है। खाली बैठने से शैतानी करके दुर्वासनाओं को लाकर साधक को मार डालता है। अतः वेदार्थ पर चढाने उतारने से यह समाहित व शान्त हो अन्त में विदा मांग लेता है। शिष्य कल्याणार्थ मन को बुलाने से वह आकर कल्पित आभासमात्र बन कर, रहता है। यही जीवन्मुक्ति अवस्था है। मन को दूर दोगे तो अवश्य विषय प्रवृत्ति करेगा। अभ्यास से ही समाहित होता है। शम से समाधान पर्यन्त एक राशि है।

ॐ

श्रद्धा

यद्यपि यजुर्वेद की काण्व शाखा में शम से समाधान पर्यन्त पांच का विधान है तथापि माध्यन्दिन शाखा में 'तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वा' कहा है। गुणोपसंहारन्याय से इसीलिये इस संग्रह में श्रद्धा भी अन्यतम है। जिस प्रकार समाहितता श्रवण में कारण है वैसे ही श्रद्धा भी है। श्रद्धा की मनन में कारणता भूमविद्या में ही 'श्रद्दधदेव मनुते' श्रद्धा करने वाला ही मनन करता है कहकर प्रतिपादन करेंगे। श्रद्धा की आवश्यकता के विचार के पूर्व श्रद्धा का रूप जानना आवश्यक है।

'मन्तव्यविषये आदरः आस्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा' (छा०भा०)। जिस विषय का मनन करना है उसके विषय में पूज्य बुद्धि एवं उसकी सत्ता में अविश्वास का अभाव श्रद्धा का स्वरूप भगवान शंकर ने बतलाया है। अन्यत्र भगवत्पूज्यपाद 'असत्यां गुरुतरायां श्रद्धायां दुरवगमत्वं। श्रद्धायां तु सत्यां मनसः समाधानं बुभुत्सितेऽर्थे भवेत् ततश्च तदर्थावगतिः' (छा०भा० ६.१२) अत्यधिक श्रद्धा के अभाव में ज्ञान की असंभावनीयता एवं उसके होने पर सहज ही मन के समाधान से ज्ञान प्राप्ति बताते हैं। यजुर्वेद तो 'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (१९.३०) की स्पष्ट घोषणा करता है। ऋग्वेद तो 'श्रद्धां भगस्य मूर्धनि' (१०) कहकर साधनसम्पत्ति ही नहीं सभी से उत्तम श्रद्धा को ही बताता है। योगीश्वर श्रीकृष्ण भी 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' कहकर श्रद्धा का प्राधान्य बताते हैं। अतः श्रद्धा की प्रधान साधनता सर्वत्र स्वीकार करनी पड़ती है।

श्रद्धा के अभाव में निश्चय होने पर भी साक्षात्कार में प्रवृत्ति नहीं होती ऐसा शास्त्र एवं अनुभवसिद्ध भी है। विचार में प्रवृत्ति अनेक लोगों को इसीलिये नहीं होती कि विचार से तत्त्वनिर्णय में श्रद्धा नहीं है। अथवा सभी प्रकार समझ जाने पर भी 'नहीं है राग बेढंगा जो पहले था सो अब भी है'। इसीलिये श्रुति 'श्रद्धावित्तो' से स्पष्ट श्रद्धा को धन बतलाती है। यहाँ श्रद्धा का तात्पर्य वेद में श्रद्धा है। 'वेदस्य पुरुषः कर्ता न हि यादृशतादृशः। किन्तु त्रैलोक्यरचनानिपुणः परमेश्वरः॥' वेद कोई ऐसा वैसा आदमी नहीं वरन् त्रिलोकी को रचने वाला साक्षात् परमेश्वर है। लोक में यथार्थवक्ता या आप्त पुरुष का वचन श्रद्धेय माना जाता है। परमेश्वर का वाक्य होने से वेद में परमाप्तता है एवं मुक्त होने से गुरु का वाक्य भी आप्त या यथार्थ है। अतः ये दोनों श्रद्धेय है। भ्रम, प्रमाद और विप्रलिप्सा ही अश्रद्धा में कारण होते हैं। परमेश्वर एवं मुक्त में भ्रम संभव नहीं। भ्रान्त मुक्त नहीं होता। प्रमाद शिष्य पर अनुग्रह करने की इच्छा वाला गुरु ही नहीं कर सकता तो ईश्वर कैसे कर सकेगा। सर्वाधिपति परमेश्वर को लोभ किस वस्तु का संभव हो सकता है? सर्वस्वत्यागी गुरु में भी विप्रलिप्सा कथमपि संभव नहीं। किंच गुरुवाक्य सदा वेदानुगामी ही होगा। अतः दोनों की एकता परस्पर निश्चायक होजाते हैं। इस प्रकार वेद एवं उसका आचार्योक्त अर्थ सर्वथा श्रद्धेय है।

श्रद्धा, विश्वास व अन्धविश्वास में भेद आवश्यक है। अविचारपूर्वक जो सुना सो माना यह विश्वास है। युक्ति, तर्क, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरोध जान लेने पर भी मानना अन्धविश्वास है। आप्तता सिद्ध हो जाने पर वचन का तात्पर्य निर्णय कर अन्यप्रमाणों से अनधिगत व अबाधित होने पर मानना श्रद्धा है। यद्यपि 'मानना' तीनों में है तथापि शर्तों का भेद स्पष्ट है। अतः अन्ध श्रद्धा असंभव है। आज श्रद्धा को अन्धविश्वास का पर्याय मान लिया गया है। इसीलिये भारत का पतन निरन्तर होता जा रहा है। अत्यन्त विचार करने पर ही श्रद्धा संभव है। अन्धविश्वासी केवल धार्मिक जन ही नहीं है, आधुनिक समझे जाने वाले जन भी हैं। 'हिन्दू मुस्लिम भाई भाई' के नारों में अन्धविश्वास कर पाकिस्तान खोया एवं 'हिन्दी चीनी भाई भाई' से हिमालय खोया। फिर भी हमारा ऐसे नारे सिखाने वालों पर विश्वास करते रहना क्या अन्धविश्वास की पराकाष्ठा नहीं है। केवल प्राचीन ग्रन्थों में ही नहीं आधुनिक ग्रन्थों एवं समाचारों में भी अन्धविश्वास संभव है यह समझना अत्यावश्यक है। बुद्धिमान् ही अपना भला बुरा सोच पाता है ऐसा प्रत्यक्ष सिद्ध होने पर भी सभी अपना भला बुरा सोच सकते हैं यह मानकर शासनव्यवस्था करना, मानवों में भेद सिद्ध होने पर भी उन्हें समान मानना, सभी को एक समान परिस्थिति होने पर एक समान ही सुख होगा ऐसा मानना, आदि अन्धविश्वास ही तो हैं। भौतिक विज्ञान में भी अन्धविश्वास किया जाता है। क्रमविकासवाद या आर्यों का भारतेतरदेशों से भारत में आना आज तक अप्रमाणित होने पर भी अन्धविश्वासी सरकार इसे सिद्धवत् बताती हैं। हाँ रामायण एवं हरिवंश के होते हुए भी राम और कृष्ण की ऐतिहासिकता पर सन्देह अवश्य करवाया जाता है। सभी सिद्धान्तों को युक्ति, प्रत्यक्ष, संभव आदि प्रमाणों पर कस कर ही स्वीकारना योग्य है। अतएव अनुसन्धेय सत्यों को सत्य या मिथ्या प्रचार करना व शिक्षा में स्थान देना पाप ही नहीं घोर पाप है। आप्तत्व भी सर्वविषयक नहीं हो सकता। एक व्यक्ति यन्त्रशास्त्र में (Engineering) परम आप्त होने पर भी चिकित्साशास्त्र में आप्त नहीं माना जा सकता। परन्तु धर्म के विषय में सभी आप्त मान लिये जाते हैं। मार्क्स ने कहा 'धर्म जन का अफीम है'। हमने पता लगाया मार्क्स ने समाधि का अभ्यास किया या भक्ति के अभ्यास में लगा या धर्मशास्त्रों का गंभीर अध्ययन किया तो सभी के उत्तर में नकार मिला। फिर वह धर्म के विषय में आप्त कैसे माना जा सकता है। पर आज तो साम्प्रदायिक युग है। जिस सम्प्रदाय के आचार्य ने जो कह दिया वही प्रमाण हो गया। शास्त्रों में तात्पर्य प्रतिपादन किया गया है। जिस शास्त्रकार ने जिस विषय की गवेषणा में निपुणता पाई हो उसी में वह प्रमाण माना जाता है। प्रसंगतः या दृष्टान्तत्वेन कथन प्रमाण नहीं स्वीकारा जाता। लेकिन आधुनिक अन्धविश्वासी युग में आईन्स्टाइन का ईश्वरनिश्वास धर्मनेता भी प्रमाणत्वेन उद्धृत करते देखे जाते हैं। अंग्रेज नाम का जादू भारत में आज भी काम करता है। तत्तद्देशों के अज्ञात-कुलविद्याशील लोगों के ग्रन्थ भारत में प्रख्यात हो जाते हैं। मानस दास्य तो स्वातंत्र्यपूर्व काल से भी अधिक होता जा रहा है।

तर्क सहारा है पर कुतर्क गड्ढा है। अधिकार प्राप्त करने पर तर्क किया जा सकता है। अनधिकारी कुतर्क ही करेगा। धर्म विषयक तथ्यों का ज्ञान होनेपर ही धर्म को तर्क पर चढाया जा सकता है। धर्म के अज्ञान वाले से तो कुतर्क ही हो सकेगा। विशेषतः धर्म का सम्बन्ध अदृष्ट विषयों से है। अतः यहाँ

प्रत्यक्षवाद का प्रवेश नहीं। लौकिक पदार्थों की तरह धर्म प्रतिपादित सत्य, अहिंसा, शम, दम आदि को या ईश्वर को प्रत्यक्ष दिखाने का आग्रह कुतर्क एवं दुराग्रह है। उनके फल आदि के आधार पर युक्तियुक्त विचार तर्क है। भौतिक विज्ञान में भी अनेक अप्रत्यक्षयोग्य पदार्थों को कार्यकारणभाव-शृंखला के सिद्धान्त पर ही माना जाता है। किसी भी धर्मग्रन्थ के गुणों को स्वीकारना श्रद्धा है। उनके दोषमात्रों का अवलोकन या दोष निकालना मात्र विद्वत्ता का परिचय मानना भी अल्पविश्वास या कुतर्क का ही रूप है। अपने मान्य सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये प्रसंग या अप्रसंग में आये वाक्यों का उद्धरण तो बेईमानी का ही रूप है। साम्यवादी वेदों से अप्रकरणस्थ स्वरों का उद्धरण देते देखे जाते हैं। एक पादरी ने प्रवचन में राजा जनक को ईसाई सिद्ध करने में तुलसीदास के मानस में से 'सर समीप गिरिजा गृह सोहा' का उद्धरण देकर गिरिजाघर की तत्कालीन सत्ता सिद्ध की थी। अनेक विधर्मी वेद आदि शास्त्रों में दोष निकालने को ही उनका अध्ययन करते हैं। उनकी जूठन चाटनेवाले तथाकथित हिन्दू तो उतना भी परिश्रम न करके उन्हीं दोषों का ढिंढोरा पीटने में गौरव समझते हैं। वस्तुतः गुरुपरम्परा से अध्ययन किये बिना उन्हें वेद ज्ञान का अधिकार ही नहीं। सारी चिकित्साशास्त्र की पुस्तकें घोटनेवाला भी स्वयं को चिकित्सादेशिक (M.D.) नहीं लिख सकता जब तक महाविद्यालय में गुरु परम्परा से अध्ययन न करे। धर्म में तो इसकी और भी अधिक आवश्यकता है। अनधिकार के कारण ही वेदों का सम्यग् ज्ञान संभव नहीं होता।

कुतर्क एवं अविचारित शंकाएं अश्रद्धा की जनक हैं। इसीलिए भारत में अपने को शिक्षित माननेवाला मण्डल स्वकीय शास्त्रों में अश्रद्धा करके परकीय शास्त्रों में अन्ध-विश्वास करने में गर्व करता है। 'ईसा मसीह पापों का उद्धार कर देंगे' माननेवाला गंगास्नान से पापों की निवृत्ति को अल्पविश्वास मानता है। भागवत के रासपंचाध्यायी का दूषित अर्थ करनेवाला सोलोमन के गीतों की प्रशंसा करते नहीं थकता। वैदिक तो अपने धर्म को सदा युक्तियुक्त की कसौटी पर कसाने को तैयार है। क्या विश्वगुरु शंकरभगवत्पाद की तरह 'नहि विधिशतेनापि तमः प्रकाशयोरेकत्र सद्भावः शक्यते कर्तुम्' सैकड़ों वेदाज्ञाएं भी अन्धकार व प्रकाश को एक ही देश काल में सत्य नहीं कर सकती कहकर अन्य प्रमाणों से विरोध होने पर अपनी मान्यताओं का त्याग करने के लिये कोई पन्थ, मज़हब या रेलीजन तैयार होने का साहस कर सकता है। भगवान शंकर तो 'अविचार्य यत्किंचित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात् प्रतिहन्येत, अनर्थं च ईयात्' (सूत्रभाष्य) से स्पष्ट ही अल्पविश्वास को मोक्ष का विरोधी एवं नरकप्राप्ति का साधन मानते हैं। जहां अन्य मजहब और रेलीजन ज्ञान के फल को नाश का कारण मानते हैं वहां वेद तो ज्ञान से ही मोक्ष मानता है। वैदिकधर्म की इस विशेषता को न जानने से ही अनेक कुतर्क एवं शंकाएं हिन्दुओं में घर कर गई है यह स्पष्ट है।